अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दूरंगम मन

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति 'प्रभु का बनकर अपने में शक्तिवर्धन' के शब्दों में हुई थी। इस अध्याय को उसी शक्तिवर्धन के लिए मन को शिवसंकल्पवाला बनाने की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं। इस प्रार्थना के कारण ऋषि का नाम ही 'शिवसंकल्प' हो गया है। यह मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। 'कौन-से मन को?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्रों में दिया गया है, अतः इन मन्त्रों का देवता=विषय 'मन' है। २. शिवसंकल्प ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आपकी कृपा से **तन्मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शिवसंकल्पवाला **अस्तु**=हो। मन के अन्दर अद्भुत शक्ति है, यह वैद्युत व चान्द्रमस है, अतः इसमें विद्युत् के समान बल व चन्द्रमा के समान ओज विद्यमान है। मन की वृत्तियाँ विकीर्ण होने पर सामार्थ्य शून्य होती हैं, इसी से वे 'विकल्प'=विगत सामर्थ्यवाली कहलाती हैं, अतः प्रार्थना करते हैं कि हमारा मन विकल्पों से दूर होकर 'संकल्पों'वाला, सम्यक् सामर्थ्यवाला हो और साथ ही वह शक्ति 'शिव'=कल्याणकर हो, उसका उपयोग ध्वंस में न हो। कौन-सा मेरा मन ३. **यत्**=जो **जाग्रतः**=जागते हुए का **दूरम्**=दूर-दूर **उत्**=बाहर (out) **आ**=चारों ओर **एति**=जाता है। ऋग्वेद के 'मनोजगाम दूरकम्' इस सूक्त में १२ बार इन शब्दों को दुहराया गया है, यह मन तो दूर-दूर समुद्रों, पर्वतों व विविध दिशाओं में भटकता फिरता है। **दैवम्**=(देवस्य इदम्) यह मन इस शरीर के सम्राट् देवराट् इन्द्र का प्रमुख साधन था। प्रभु-प्राप्ति के लिए यह सर्वमहान् उपकरण था। जैसे आँख रूप का उपकरण है, उसी प्रकार यह मन परमात्मादर्शन का उपकरण है, परन्तु यह तो इधर-उधर भटक रहा है, अपने उद्दिष्ट कार्य में नहीं लगा। जागरित अवस्था में ही इधर-उधर जाता हो यह बात भी नहीं। **तत्**=वह मन **उ**=निश्चय से **सुप्तस्य**=सोते हुए का भी तथा एव जागते हुए की भाँति उसी प्रकार दूर-दूर तक जाता है। **दूरङ्गम्**=दूर-दूर जाना जिसका स्वभाव है। **ज्योतिषम्**=ज्योतियों की **एकम्**=एकमात्र **ज्योतिः**=ज्योति है।

भावार्थ—मेरा मन सदा शिवसंकल्प करनेवाला हो।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अपूर्व मन

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२॥

हे सर्वान्तर्यामिन् परमेश्वर! **येन**=जिस मन से **अपसः**=कर्म करनेवाले, **धीराः**=धैर्ययुक्त **मनीषिणः**=मन के विजेता विद्वान् लोग **यज्ञे**=यज्ञ में, श्रेष्ठतम कर्मों में और **विदथेषु**=संघर्षों

में, युद्धादि में **कर्माणि**=कर्मों को **कृण्वन्ति**=करते हैं, **यत्**=जो **अपूर्वम्**=अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, विलक्षण, अद्भुत, **यक्षम्**=अत्यन्त पूजनीय **प्रजानां अन्तः ओतम्**=यह मन प्रजाओं के अन्दर है। शरीर के ठीक मध्य में इसकी स्थिति है। यह कहलाता ही 'अन्तःकरण' है। पञ्चकोशात्मक शरीर में दो कोश एक ओर हैं और दो कोश दूसरी ओर और ठीक मध्य में है यह 'मनोमयकोश'। ६. **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम् अस्तु**=शुभ संकल्पोंवाला हो। जब यह विकल्पात्मक होता है तब निर्बल होकर मृत्यु का कारण बनता है, संकल्पात्मक होकर सशक्त होता है और जीवन का हेतु बनता है।

भावार्थ—हम मन की अद्भुत शक्ति को पहचानें और उसे वश में करके शिवसंकल्पात्मक बनाकर कल्याण का साधन करें।

नोट—पण्डितजी की पाण्डुलिपि में एक पृष्ठ लुप्त है। पृष्ठों की क्रम संख्या ठीक है। प्रथम और द्वितीय दोनों मन्त्र खण्डित हैं। हमने उन्हें पूरा कर दिया है। —**जगदीश्वरानन्द**

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अमृत मन

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥

१. वह मेरा मन **यत्**=जो **प्रज्ञानम्**=प्रकृष्ट ज्ञान का साधक है। लौकिक ज्ञान में आँख इत्यादि इन्द्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आँख रूप को देखती है तो कान शब्द को सुनता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों को ग्रहण करती हैं, परन्तु वे सब उस अन्तःस्थित आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर पातीं। यह दर्शन तो मन से ही होता है। लौकिक ज्ञान में भी मन हो तो शीघ्र व सम्यक् ज्ञान होता है। मन की अनुपस्थिति में ज्ञान होता ही नहीं, उसकी विक्षिप्तावस्था में अधकचरा-सा ज्ञान होता हैं। २. **उत्**=और **चेतः**=यह मन स्मरण का साधन है। मन के ठीक होने पर 'मैं कौन हूँ' यह स्मृति बनी रहती है। पाठ में मन हो तो जल्दी याद होता है। ३. **च**=और यह मन **धृतिः**=धैर्य व दृढ़ता का साधन है। ४. यह मन वह है **यत्**=जो **प्रजासु**=प्रजाओं के अन्दर **अमृतम् ज्योतिः**=अमर ज्योति है। इन्द्रियाँ ज्योति हैं, परन्तु उनका भी प्रकाशक मन ही है, अतः यह मन ही वस्तुतः ज्योति है और चूँकि शरीर के नष्ट होने पर भी साथ ही जाता है, अतः इसकी मृत्यु नहीं होती। एवं, यह मन 'अ-मर' है। ५. **यस्मात् ऋते**=इस मन के बिना **किञ्चन कर्म**=कोई छोटा-सा भी कार्य **न**=नहीं **क्रियते**=किया जाता। **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसङ्कल्पम्**=शिवसङ्कल्पवाला **अस्तु**=हो। प्रत्येक कार्य का सौन्दर्य व साफल्य मन के शिवसंकल्पमय होने पर ही निर्भर करता है।

भावार्थ—हमारा यह मन अमर ज्योति है। इसके महत्त्व को समझकर हम इसकी शक्ति के विकास के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वग्राहक मन

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

१. **तन्मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शुभ संकल्पोंवाला **अस्तु**=हो, **येन अमृतेन**=जिस

अमर मन से **इदम्**=यह **भूतम्**=भूतकाल की सब बात **भुवनम्**=वर्त्तमान की बात और **भविष्यत्**=आगे होनेवाली बातें **सर्वम्**=सब **परिगृहीतम्**=ग्रहण की जाती हैं। यह मन अमर है, आत्मा के साथ अगले-अगले शरीर में जाता है। इसमें सब जन्म-जन्मान्तर के संस्कार निहित होते हैं, वर्त्तमान की बातें इसपर अपने संस्कार डाल रही हैं और आनेवाली बातों का इसपर प्रतिबिम्ब-सा पड़ जाता है तथा आगे होनेवाली सब कल्पनाओं का उद्गम इसी में है। एवं, यह मन भूत, भविष्य व वर्त्तमान तीनों का ही ग्रहण करनेवाला है। ३. यह मन वह है **येन**=जिससे **सप्तहोता**=सात होताओंवाला **यज्ञः**=यज्ञ **तायते**=विस्तृत किया जाता है। ये सात होता शरीर के सात ऋषि हैं-**'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख, ये सात ऋषि प्रत्येक शरीर में विद्यमान हैं **'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**। यह इस शरीर में स्थित होकर ज्ञानयज्ञ को चलाया करते हैं, परन्तु इनका यह ज्ञानयज्ञ मनोयोग के होने पर ही चलता है। मन के बिना ये सब अशक्त हैं। ये ज्योति हैं, तो मन इन ज्योतियों की भी ज्योति है। जिस समय साधक इस मन को वश में कर लेता है तब इस मन का जहाँ भी वह संयम करता है, झट उसी का ज्ञान कर लेता है। **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**=सूर्य में संयम करने से यह सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान कर लेता है। पवित्र मन पर आगे आनेवाली घटनाओं का प्रतिबिम्ब पहले से ही पड़ जाता है। इस प्रकार वह मन 'भूत-भुवन-भविष्यत्' सभी का ग्रहीता है और सम्पूर्ण ज्ञानयज्ञ को चलानेवाला है। यह शिवसंकल्प हुआ तो फिर कल्याण-ही-कल्याण है।

भावार्थ—हम अपने मन को बड़ा शुद्ध बनाएँ, जिससे हमारा ज्ञानयज्ञ बड़ी सुन्दरता से चले।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ऋग्-यजु-साम का आधार मन

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥

१. **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शुभ संकल्पवाला **अस्तु**=हो, **यस्मिन्**=जिसमें और **यस्मिन्**=जिससे ही **ऋचः**=सम्पूर्ण विज्ञान (ऋग्वेद=विज्ञानवेद) **साम**=उपासना व **यजूंषि**=यज्ञात्मक कर्म में **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित हैं **इव**=जैसे **रथनाभौ**=रथ के पहिये की नाभि में **अराः**=अरे प्रतिष्ठित होते हैं। नाभि के हिलते ही सब अरे हिल जाते हैं, इसी प्रकार मानसविकार होते ही सारा विज्ञान, सारी उपासना व सारा कर्मकाण्ड समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिकों ने प्रकृति-तथ्यों का निरीक्षण पूर्ण मनोयोग से करना होता है। उपासना तो चलती ही तब है जब मन से अन्य सब विषयों को निकाल दिया जाए। सब यज्ञ मन से ही होते है। क्या वेदाधिगम=(वेद पढ़ना) और क्या वैदिक कर्मकाण्ड—ये सब मन के न होने पर नहीं चलते। मनोनिरोध करके मनुष्य वैज्ञानिक तथ्यों का विचार कर पाता है, मनोनिरोध का ही नाम उपासना हो जाता है (ध्यानं निर्विषयं मनः), मन की एकाग्रता से किया गया कर्म सुन्दर होता है। २. यह मन वह है **यस्मिन्**=जिसमें **प्रजानाम्**=प्रजाओं का **सर्वम् चित्तम्**=सारा चित्त, सम्पूर्ण स्मरण **ओतम्** =ओत-प्रोत है, व्याप्त है। जब यह इन्द्रिय द्वारों से बहार जाकर संसार के विषयों के साथ रम जाता है तब मनुष्य को **'कोऽहं कुत आयातः'**=मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ? यह सब भूल जाता है। आत्मविस्मरण से बचने के लिए मन को वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**=चित्तवृत्ति-

निरोध ही योग है और **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**=तभी द्रष्टा स्वरूप में स्थित होता है, अपने को पहचानता है, भूलता नहीं।

भावार्थ—मन ही विज्ञान, उपासना व कर्म का आधार है। आत्मस्मृति का मूल मन ही है। वह एकाग्र रहा तो मनुष्य अपने स्वरूप को देख पाता है।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हृदय में प्रतिष्ठित मन

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥

१. **इव**=जैसे **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **वाजिनः**=शक्तिशाली **अश्वान्**=घोड़ों को **अभीशुभिः इव**=जैसे लगामों से **नेनीयते**=खूब इधर-उधर ले-जाता है, उसी प्रकार मन मनुष्यों को न जाने कहाँ-कहाँ ले-जाता है। एक ही क्षण में पूर्व में है, तो अगले ही क्षण में पश्चिम में पहुँच जाता है, प्रथम क्षण में समुद्र तल में विचर रहा है तो अगले ही क्षण में पर्वत-शिखर पर पहुँचा होता है। चारों दिशाओं में भटकता है। यहाँ 'सु-सारथि' शब्द का उल्लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उत्तम सारथि घोड़ों को लक्ष्य की ओर ले-जाता है, इसी प्रकार यह उत्तम बना हुआ मन मनुष्य को अवश्य लक्ष्य तक पहुँचानेवाला होता है। २. **हृत् प्रतिष्ठम्**=यह मन हृदय में प्रतिष्ठित है। 'हृदय' श्रद्धा का निवासस्थान है और श्रद्धा होने पर ही मन स्थिर होता है। जिस विषय में श्रद्धा होगी, उसी विषय में मन स्थिर हो पाएगा। आत्मतत्त्व में श्रद्धा हुई तो मन वहीं एकाग्र होगा। वृक्ष जैसे भूमि में प्रतिष्ठित है, भूमि से जड़ बाहर हुई और वृक्ष गिरा, इसी प्रकार मन श्रद्धा में प्रतिष्ठित है, श्रद्धा से रहित हुआ कि भटका। ३. यह मन **यत्**=जो **अजिरम्**=(agile) अत्यन्त क्रियाशील है **जविष्ठम्**=अत्यन्त वेगवान् है **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**=वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। मन सचमुच 'चञ्चल'=अत्यन्त चञ्चल है 'वायोरिव सुदुष्करम्'=इसका स्थिर करना वायु को मुट्ठी में पकड़ने के समान है, परन्तु श्रद्धा होने पर स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—हम अपने इस नितान्त चञ्चल मन को श्रद्धा द्वारा नियन्त्रित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अन्नम्**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पालक अन्न को

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥७॥

१. गत छह मन्त्रों में मन को शिवसंकल्प बनाने का वर्णन है। मन की शिवसंकल्पता बहुत कुछ अन्न पर निर्भर है। सात्त्विक अन्न से मन भी सात्त्विक होता है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'** यह उपनिषद्वाक्य कह रहा है कि आहार के शुद्ध होने पर मन भी शुद्ध होता है। इसी सारी बात का संकेत वेद में मन के मन्त्रों के बाद अन्न का मन्त्र देकर कर दिया गया है। २. अन्न 'पितु' है (पा रक्षणे) शरीर की रक्षा करनेवाला है। शरीर का नाम ही अन्नमयकोश है। अन्न से ही इसकी रक्षा होती है। जब तक यह अन्नमयकोश अन्न को खाता है, तब तक शरीर स्वस्थ बना रहता है, परन्तु जिस दिन इस अन्न को मन खाने लगा उसी दिन स्वाद में पड़कर यह अन्न अतिमात्र सेवित होता है और हमें ही खा जाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **नु**=अब, शिवसंकल्प की प्रार्थना की समाप्ति पर **पितुम्**=रक्षक अन्न की **स्तोषम्**=स्तुति करता हूँ। यह अन्न **महः**=तेजिस्वता है, मुझे तेजस्वी बनानेवाला है।

धर्माणम्=यह मेरा धारक है। **तविषीम्**=बल है। वस्तुतः मात्रा में सेवित किया हुआ सात्त्विक अन्न मनुष्य को तेजस्वी बनाता है, यह हमारे शरीरों को धारण करता हुआ उन्हें बलयुक्त करता है। ४. यह अन्न वह बल है **यस्य**=जिसके **विओजसा**=विशिष्ट ओज से **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ को तैर जानेवाला व्यक्ति अथवा शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियों का विकास करनेवाला व्यक्ति **वृत्रम्**=सब प्रकार की उन्नतियों की विघ्नभूत वासनाओं को **विपर्वम्**=एक-एक पोरी को विकीर्ण करके **अर्दयत्**=नष्ट करता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से कामना सभी रूपों में समाप्त हो जाती है, न काम सताता है, न क्रोध, न लोभ। उत्तेजक भोजन ही वासनाओं की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। यहाँ मन्त्र में पालक व सौम्य भोजन के सेवन का संकेत है, यही भोजन 'पितु' है। एवं, स्पष्ट है कि त्रित सौम्य-भोजनों का ही प्रयोग करता है और इसी कारण वह वृत्र का विनाश करके पाप के मूल को ही समाप्त करता हुआ प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अगस्त्य'=पापसंहार करनेवाला कहलाता है। इस प्रकार के अन्न के सेवन का ही यह भी परिणाम है कि यह संसार में 'अनुकूल मति' से चलता है, वैर-विरोध को बढ़ानेवाला नहीं होता। इसी अनुमति का उल्लेख अगले मन्त्र में करेंगे।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से मन को शिवसंकल्प बनाएँ, उसमें से वासनाओं को उखाड़ फेंकें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अनुमतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अनुमति

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र णऽआयूꣳषि तारिषः॥८॥

सात्त्विक अन्न के सेवन से मनुष्य के अन्दर सदा 'अनुमति'=अनुकूल मति=उन्नति के लिए योग्य विचार उत्पन्न होते हैं। राजस् व तामस् अन्नों का परिणाम विरोधी विचारों का उत्पन्न होना, लड़ाई-झगड़े के विचारों का उत्पन्न होना है। सात्त्विक अन्न 'अनुमति' को जन्म देता है तो उससे भिन्न अन्न 'विमति' को जन्म देता है। विमति से परस्पर विरोध-विद्वेष बढ़ता है और उसका परिणाम मानस अशान्ति है। मानस अशान्ति के होने पर 'विषाद' उत्पन्न होता है, मनुष्य के मन में कर्मसंकल्प नहीं उठता, किसी काम को जी करता ही नहीं। ऐसी स्थिति उन्नति के लिए व बल-वृद्धि के लिए विघातक है, और दीर्घजीवन की विरोधी है ही। इस सारी बात को ध्यान में करके मन्त्र में 'अगस्त्य' ऋषि जिनका उद्देश्य सब प्रकार की **'अ-ग'**=अगतिता को **स्त्य**=समाप्त करना है, कहते हैं कि हे **अनुमते**=अनुकूलमते! **त्वम्**=तू **इत्**=निश्चय से **अनुमन्यासै**=हमपर अनुकूलमतिवाली हो, अर्थात् हम तेरे 'कृपापात्र' बने रहें। तू हमसे कभी दूर न हो **च**=और **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति को **कृधि**=कर। **नः**=हमें शान्त बनाकर **क्रत्वे**=सदा उत्तम कर्मसंकल्पों के लिए तथा **दक्षाय**=उन्नति के लिए **हिनु**=प्रेरित कर। इस प्रकार हमें शान्त, कर्ममय, उन्नतिशील जीवनवाला बनाकर **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्रतारिषः**=खूब लम्बा करना, हमें दीर्घ जीवनवाला बनाना।

भावार्थ—यदि हम शुष्क वैर-विवाद से दूर रहकर अनुकूलितमति से चलते हैं तो हमें 'शान्ति, कर्मसंकल्प (कर्मसामर्थ्य), उन्नति तथा दीर्घजीवन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अनुमतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अनुमति और अग्नि

अनु॑ नो॒ऽद्यानु॑मतिर्य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ मन्यताम्।
अ॒ग्निश्च॑ हव्य॒वाह॑नो॒ भव॑तं दा॒शुषे॒ मय॑ः॥९॥

पिछले मन्त्र में कहा गया था कि अनुमति के होने पर 'शान्ति' रहती है। जिस घर में पति-पत्नी में अनुमति है, वह घर स्वर्ग बन जाता है। इसी 'अनुमति' का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **अनुमतिः** =शान्ति व उन्नति की साधनभूत यह 'अनुमति'=(प्रेम का विचार) **अद्य**=आज **नः**=हमारे **देवेषु यज्ञम्** =देवताओं में निवास करनेवाला जो यज्ञ है, उसका **अनुमन्यताम्**=अनुकूल बोध दे, अर्थात् हमारे विचारों को 'अनुमति' यज्ञानुकूल बनाये। देवता लोग यज्ञमय जीवन बिताते हैं, वही यज्ञ 'अनुमति' की कृपा से हमें प्रिय हो। हमारी मनोवृत्ति आज से यज्ञ-प्रवण हो जाए। 'यज्ञ' का पूर्ण अर्थ यह है कि हम (क) सदा बड़ों का आदर करें (देवपूजा), (ख) सब साथियों के साथ बड़े प्रेम से मिलकर चलनेवाले बनें (संगतिकरण) तथा (ग) सदा ही कुछ-न-कुछ देनेवाले बने रहें (दान), (घ) इस दान को ही जब हमें इन वायु आदि देवों के लिए करना होता है तब हम इन देवों के मुखरूप अग्नि में हव्य पदार्थों को डालते हैं। यही अग्निहोत्र कहलाता है और यज्ञ का अर्थ संकुचित रूप में यही लिया जाता है। देव लोग तो यज्ञमय जीवनवाले हैं ही, हम भी अनुमति की कृपा से यज्ञमय जीवनवाले बनें, **च**=और **अग्निः**=देवों का मुख यह अग्नि **हव्यवाहनः**=हमारे द्वारा दिये गये हव्य पदार्थों को देवों में ले-जानेवाला बने। इस प्रकार हे अनुमते और अग्ने! आप दोनों **दाशुषे**=इस दाशवान् के लिए **मयः**=कल्याणकर **भवतम्**=होओ। 'दाशवान्' पुरुष वह है (दाशृ दाने) जो देनेवाला है और अन्त में जो अपने को प्रभु के प्रति दे डालता है, यह समर्पण की वृत्तिवाला पुरुष दाश्वान् कहलाता है। प्रभु-प्रवण व्यक्ति कभी किसी से लड़ता नहीं, यह सदा सबके साथ प्रेम से चलता है, यज्ञशील तो होता ही है। 'अनुमति व अग्नि की कृपा से यह 'अगं पापं संहन्ति=स्त्यायति'=पाप को नष्ट करके अगस्त्य बन जाता है।

भावार्थ—हम सदा अनुमतिवाले हों और हमारे जीवन यज्ञमय बन जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**सिनीवाली**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सिनीवाली (आदर्श पत्नी)

सिनी॑वालि॒ पृथु॑ष्टुके॒ या दे॒वाना॒मसि॒ स्वसा॑।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि दिदिड्ढि नः॥१०॥

'गत दो मन्त्रों में वर्णित 'अनुमति' को गृहिणी अपने सन्तानों में 'कैसे जन्म देती है', इस विषय को स्पष्ट करने के लिए दो मन्त्रों में 'आदर्श पत्नी' के क्रियाक्रम का उल्लेख करते हैं १. यह आदर्शपत्नी **सिनीवालि**=(सिनमन्नम्, वालं=पर्व=पूरण—नि० ११।३।३२) अन्न के द्वारा सब न्यूनताओं को दूर करती है तथा मनों में अनुमति व उससे जनित यज्ञिय वृत्तियों का पूरण करती है। यह घर में सदा सात्त्विक अन्नों का ही व्यवहार रखती है, कभी भी राजस् व तामस् भोजनों को घर में नहीं आने देती। इसी का यह परिणाम होता है कि यह स्वयं तो अनुमतिवाली होती ही है, अपनी सन्तानों में भी इस अनुमति को उत्पन्न कर पाती है। २. जीवन में ग़लती न हो जाए' इस विचार से सदा प्रभु का स्तवन करनेवाली

बनती है। मन्त्र में इसे **पृथुष्टुके**=(पृथुष्टुते–नि० ११।३।३२) हे ख़ूब स्तुतिवाली! इस प्रकार कहा गया है। 'प्रथ विस्तारे'=इसके जीवन में सदा स्तुति का विस्तार रहता है, जब ज़रा समय खाली हुआ या अन्य कार्य से थकी कि 'प्रभु नाम जपन' करने लगी। ३. इस प्रकार **या**=जो तू **देवानां स्वसा**=देवों की बहिन **असि**=है। जिस तूने दिव्य गुणों को धारण किया है। माता को यही चाहिए कि जिन-जिन बातों को वह बच्चों में चाहे उन्हें स्वयं धारण करे 'स्वयं सरति इति स्वसृ'। स्वयं सोई हुई माता बच्चों को जगाकर पढ़ाई में प्रवृत्त नहीं कर सकती। ४. **आहुतम् हव्यम् जुषस्व**=अग्नि में आहुति दिये जा रहे हव्य पदार्थों का तू प्रीतिपूर्वक सेवन कर, अर्थात् तू नित्य अग्निहोत्र करनेवाली हो। यह प्रतिदिन का यज्ञ सन्तानों के जीवन को अवश्य यज्ञमय बना देगा। माता को अग्निहोत्र करते देखकर बालकों के लिए भी यज्ञ एक सुन्दर खेल हो जाएगा। ५. इस प्रकार अपने जीवन को दिव्य गुणों से भरनेवाली आदर्श गृहिणी सचमुच देवी है। इससे कहते हैं कि हे **देवि**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाली आदर्श गृहिणी! तू **नः**=हमें **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को **दिदिड्ढि**=दे–प्राप्त करा। 'इस पत्नी की सन्तान इसी के समान उत्तम जीवनवाली होगी', इस बात में तो शक है ही नहीं। ६. इस उत्तम जीवनवाली पत्नी को पाकर पति का जीवन भी आनन्दमय होता है और वह उत्तम साथी प्राप्त कराने के लिए प्रभु का सदा आभारी रहता है। गृणाति माद्यति=प्रभु-स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है और 'गृत्समद' इस अन्वर्थ नामवाला हो जाता है।

भावार्थ–पत्नी १. सात्त्विक अन्न के व्यवहार से न्यूनताओं को दूर करनेवाली हो। २. निरन्तर स्तुतिमय जीवनवाली हो। ३. स्वयं दिव्य गुणों को धारण करे ४. यज्ञशीला हो। ५. ऐसी पत्नी सुसन्तान का निर्माण करती है।

ऋषिः–**गृत्समदः**। देवता–**सरस्वती**। छन्दः–**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

सरस्वती का 'पंचधा सरित्' होना

पञ्च॑ न॒द्यः॑ सर॑स्वतीमपि॑ यन्ति॒ सस्रो॑तसः।
सर॑स्वती॒ तु पं॑च॒धा सो दे॒शेऽभ॑वत्स॒रित्॥११॥

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानवाहिनी नदियाँ है। चक्षु से प्रवाहित होनेवाली ज्ञाननदी रूप-जल से भरी है तो श्रोत्र से चलनेवाली शब्दरूप जल से। एवं, एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से एक-एक विषय का ग्रहण होकर यह सम्पूर्ण पाँच भौतिक संसार हमारे ज्ञान का विषय बन जाता है और इस प्रकार ज्ञान जलवाहिनी सरस्वती नदी पूर्ण जलौघ के साथ बह चलती है। ज्ञानजलौघ से युक्त गृहिणी को भी यहाँ 'सरस्वती' ही नाम दिया गया है। गतमन्त्र में यह सिनीवाली=अन्न से दोषों को दूर कर अपना पूरण करनेवाली थी, और वस्तुतः उस सात्त्विक अन्न के सेवन ने ही इसे 'सरस्वती' बनने की क्षमता प्राप्त कराई है। **सरस्वतीम्**=इस सरस्वती को **पञ्च**=पाँच **सस्रोतसः**=समान स्रोतवाली **नद्यः**=ये ज्ञान-जलवाहिनी नदियाँ **अपियन्ति**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् यह उत्तम गृहिणी सदा अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न में लगी रहती है। वेद का यह उपदेश कि 'पंचौदनः पंचधा विक्रमताम्'=पञ्चौदन जीव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहे, कभी उत्तम पत्नी भूलती नहीं तभी तो वस्तुतः वह सचमुच **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता बन पाई है। **सा तु**=यह पत्नी तो **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता बनकर **उ**=निश्चय से **देशे**=जिस गृह में व क्षेत्र में काम करती है उस प्रदेश में **सरित्**=कार्य को सुन्दर रूप से चलानेवाली (सृ

गतौ) **अभवत्**=होती है। अज्ञान में क्रिया ग़लत होती है, ज्ञान क्रिया में पवित्रता व कुशलता को ले-आता है। एवं, 'सरस्वती' अपने घर का सञ्चालन ऐसे अच्छे ढंग से करती है कि **पञ्चधा**=पाँचों प्रकार से, अर्थात् अन्नमयादि पाँचों कोशों के दृष्टिकोण से **सरित्**=सब सन्तानों को आगे बढ़ानेवाली बनती है। अपने सन्तानों के अन्नमयकोश को नीरोग बनाती है, प्राणमय को सबल, मनोमय को निर्मल, विज्ञानमय को दीप्त और आनन्दमयकोश को सदा सोल्लास बनानेवाली होती है। यह है 'सरस्वती' का 'पञ्चधासरित्' होना=पाँच प्रकार से बच्चों को आगे बढ़ाना।

भावार्थ—माताएँ सरस्वती हों, बच्चों की सर्वांगीण उन्नति की साधिका हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यस्तूप

त्वमग्ने प्रथमोऽअङ्गिराऽऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥१२॥

सरस्वतीरूप माता से शिक्षित होकर एक युवक बड़े संयत जीवनवाला बनता है। यह प्रभु को निम्न शब्दों में आराधित करता है १. हे **अग्ने**=हमारी सब प्रकार की उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रथमः**=सबसे प्रथम होनेवाले हो, गुरुओं के भी गुरु हो (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे)। आप अत्यन्त विस्तारवाले हो (प्रथ विस्तारे), सर्वव्यापक हो, सबमें आप हो, सब आपमें ही स्थित हैं। २. **अङ्गिराः**=(अङ्ग, रस) हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आप ही रस का सञ्चार करनेवाले हो। सभी को शक्ति देनेवाले आप ही हो। आपकी दीप्ति से ही वस्तुतः सारा संसार दीप्त है। ३. **ऋषिः**=आप सर्वद्रष्टा हैं, सर्वज्ञ हैं। ४. **देवः**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं, सब देवताओं को भी देवत्व देनेवाले आप ही हैं। ४. **देवानाम्**=दिव्य गुणों को अपनाकर देव बननेवालों के **शिवः सखा**=कल्याणकर मित्र **अभवः**=होते हो। प्रभु देव हैं तो देव बननेवाले उन्हें क्यों न प्रिय हों? ४. देव बनने के लिए जो व्यक्ति **तव व्रते**=आपके व्रत में चलते हैं, अर्थात् अपना लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति बनाते हैं, वे व्यक्ति (क) **कवयः**=क्रान्तदर्शी बनते हैं, तात्त्विक ज्ञान को प्राप्त करके वस्तुओं की ऊपरली चमक से मुग्ध हो जानेवाले नहीं होते। (ख) **विद्मनापसः**=ज्ञानपूर्वक होने के कारण ही इनके कर्म पवित्र बने रहते हैं। (ग) **मरुतः**=ये मितरावी होते हैं, बोलते कम हैं, करते अधिक हैं, वाग्वीर न होकर कर्मवीर होते हैं तथा (मरुतः प्राणाः)=प्राणों की साधना करनेवाले होते हैं। (घ) इस प्राणसाधना से ही वस्तुतः ये **भ्राजदृष्टयः**=देदीप्यमान ज्ञानरूप दर्शनवाले **अजायन्त**=होते हैं। इनकी ज्ञानाग्नि ख़ूब चमक उठती है।

भावार्थ—वीर्य की ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' प्रभु को 'अग्नि, अङ्गिरा, ऋषि, देव व देवसखारूप' में देखता है और प्रभु-प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बनाकर 'कवि=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला, मरुत व भ्राजदृष्टि' बन जाता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुरक्षा का पात्र

त्वं नोऽअग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य।
त्राता तोकस्य तनये गवामस्यनिमेषꣳ रक्षमाणस्तव व्रते॥१३॥

हे **अग्ने**=उन्नति के साधक! **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे

मघोनः=(मा अघ) पाप के अंश से शून्य ऐश्वर्यवालों को तथा (मघ=मख) यज्ञशील लोगों को **तव पायुभिः**=अपने रक्षणों से **रक्ष**=सुरक्षित कीजिए। प्रभु रक्षा करते हैं, उनकी जो (क) **मघ**=ऐश्वर्य का उपार्जन करते हैं, उस ऐश्वर्य का जोकि कुटिलता व पाप से नहीं कमाया गया। (ख) जो ऐश्वर्य का उपार्जन करके उस ऐश्वर्य का विनियोग यज्ञों (मघ=मख) में करते हैं, (ग) इस प्रकार जो साधनों को जुटाकर और साधनों का सदुपयोग करके उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं (अग्नि) और (घ) धीरे-धीरे दिव्य गुणों के पुञ्ज बन जाते हैं (देव)। हे **वन्द्य**=हे वन्दन व स्तवन के योग्य प्रभो! **नः तन्वः च**=और हमारे शरीरों की भी **रक्ष**=आप रक्षा कीजिए। हे प्रभो! आप ही **तोकस्य त्राता**=हमारे सन्तानों के भी रक्षक हैं। वस्तुतः प्रभुकृपा से ही माता-पिता सन्तानों का निर्माण कर पाते हैं। हमारे **तनये**=पौत्रों के विषय में भी (तनुते वंशम्) आप ही **त्राता**=रक्षक हैं। हमारी इन सन्तानादि की रक्षा के लिए ही **गवाम्**=हमारे गौ आदि पशुओं के भी आप **त्राता असि**=रक्षक हैं। यहाँ वंश-विस्तार के लिए गोरक्षा का स्पष्ट संकेत है। हे प्रभो! वास्तव में **तव व्रते**=आपके व्रत में चलनेवालों के आप **अनिमेषम्**=प्रमादशून्यता से, पूर्ण सावधानी से **रक्षमाणः**=रक्षा करनेवाले हैं। जो प्रभु-प्राप्ति को अपना ध्येय बना लेते हैं प्रभु स्वयं उनके रक्षक बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षा का पात्र बनने के लिए हम (क) सदा सुपथ से धन कमाएँ, (ख) धन का विनियोग यज्ञों में करें, (ग) उन्नत होने का सतत प्रयत्न करें, (घ) दिव्यता को धारण करें, (ङ) प्रभु के प्रति वन्दनशील हों।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इडा पुत्र—अक्रोधी-संयमी

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाजऽइडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट॥१४॥

पिछले दोनों मन्त्रों में 'तव व्रते' ये शब्द आये हैं। प्रभु की रक्षा के पात्र वे होते हैं जो प्रभु के व्रत में स्थित हों। प्रभु-प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चयवाले ये लोग सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हैं, इस सात्त्विक अन्न से इनकी बुद्धि भी सात्त्विक व सूक्ष्म बनती है। इस **उत्तानायाम्**=(उत्+तन) उत्कृष्ट विस्तारवाली बुद्धि में **चिकित्वान्**=समझदार पुरुष **अवभर**=वेदवाणी को भरता है। जैसे पृथिवी में बीज बोते हैं, उसी प्रकार समझदार व्यक्ति उत्कृष्ट विकसित बुद्धि में वेदवाणी का बीज बोते हैं। यह वेदवाणीरूप बीज **सद्यः**=कुछ ही समय बाद **प्रवीता**=प्रजाता=अंकुरित हुआ-हुआ उस बोनेवाले को **वृषणम्**=बड़ा शक्तिशाली **जजान**=बना देता है। वेदवाणी मानवजीवन को सबल बनाती है। उसकी प्रेरणा के अनुसार चलता हुआ मनुष्य काम-क्रोधादि वासनाओं से पराजित नहीं होता और संसार के विषय अत्यन्त प्रबल आकर्षण रखते हुए भी उसे बाँध नहीं पाते। यह **इडायाः**=वेदवाणी का **पुत्रः**=पुत्र बन गया है। वेदवाणी ने ही इसके जीवन को बनाया है। यह वेदवाणी का 'पुत्र' इसलिए भी है कि यही वाणी इसे 'पुनाति'=पवित्र करती है और त्रायते=बचाती है। यह वेदवाणी का पुत्र **अरुषस्तूपः**=(अरुषश्चासौ स्तूपः) क्रोध से एकदम शून्य और शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला (स्तूप् to raise) होता है। मनुष्य दो कारणों से निर्बल होता है, एक यह कि शक्ति का अपव्यय हो जाए, और दूसरा यह कि क्रोध के कारण वह अन्दर-ही-अन्दर जल जाए। यह 'इडापुत्र' क्रोधशून्य है और साथ ही शक्ति को नष्ट न

होने देनेवाला है। परिणामतः **अस्य पाजः**=इसकी शक्ति **रुशत्**=देदीप्यमान है। यह शारीरिक स्वास्थ्य व मानस प्रसाद के कारण प्रफुल्लित प्रतीत होता है। यह **वयुने**=उत्कृष्ट विज्ञान में **अजनिष्ट**=विकसित हुआ है। शरीर व मन के विकास के साथ इसका मस्तिष्क भी विज्ञान की दीप्ति से चमक उठा है।

भावार्थ—वेदवाणी (ज्ञान की वाणी) मानव-जीवन को सबल बनाती है। यह उसे अक्रोधी, संयमी, दीप्तशक्तिवाला व ज्ञाननिष्ठ बना देती है।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवश्रवदेववात

इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्याऽअधि।
जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोढवे॥१५॥

पिछले तथा प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'देवश्रवदेववात' (भारत) हैं। ये माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों से ज्ञान प्राप्त करके 'देवश्रव' नामवाले हुए हैं। इन्हीं देवों से सदा उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करने के कारण इनका नाम 'देववात' (वा=ईर=प्रेरण) हो गया। इन्होंने वेदवाणी को अपने में भरा, अतः ये 'भारत' हैं। ज्ञान प्राप्त करके, यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रेरणा लेकर ये सदा यज्ञादि में लगे रहते हैं, सबके साथ मिलकर चलते हैं और दान की वृत्ति को कभी अपने से दूर नहीं करते। यही दान की वृत्ति नैत्यिक अग्निहोत्र के रूप में भी प्रकट होती है और यह कहता है कि हे **जातवेदः**=प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त करानेवाले (जातं वेदयति) **अग्ने**=हव्य पदार्थों को आगे-और-आगे ले-जानेवाले अग्ने! **हव्याय वोढवे**=हव्य पदार्थों को ढोने के लिए **वयम्**=हम **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः नाभौ अधि**=इस पृथिवी की यज्ञरूप नाभि में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **निधीमहि**=स्थापित करते हैं। यज्ञ के अभाव में किसी का कल्याण नहीं, यह पृथिवीलोक तो यज्ञजनित पर्जन्यों से ही प्रीणित होता है। **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसंभवः'** अन्न की उत्पत्ति करनेवाला पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है। यह अग्नि 'जातवेद' है, इसमें डाले हुए हव्य पदार्थ को यह प्रत्येक देव को प्राप्त कराता है। अग्नि जलायी और हव्य पदार्थ डाले' इतना ही नहीं, यह उन हव्य पदार्थों को **इडायाः**=वेदवाणी के **पदे**=शब्दों के उच्चरित होने पर डालता है, अर्थात् मन्त्रोच्चारणपूर्वक यह यज्ञों को करनेवाला बनता है। इस प्रकार इन यज्ञों के प्रसङ्ग से यह वेदवाणी की भी रक्षा करनेवाला बनता है। वेदवाणी इसकी माता है, उसी ने इसका निर्माण किया, उसकी रक्षा करना इसका कर्त्तव्य है।

भावार्थ— यह 'देवश्रवदेववात' यज्ञमय जीवनवाला होता है। मन्त्रोच्चारपूर्वक जातवेद अग्नि में हव्य पदार्थों को डालता है।

ऋषिः—**नोधाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्तुत्य जीवन

प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसेऽअङ्गिरस्वत्।
सुवृक्तिभिः स्तुवतऽऋग्मियायार्चामार्कं नरे विश्रुताय॥१६॥

१. **शवसानाय**=(अभिबलायमानाय) सब ओर बल के पुञ्ज की भाँति आचरण करनेवाले के लिए **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को **प्रमन्महे**=चाहते हैं, इसके लिए वासनाओं के शोषक बल की कामना करते हैं। यदि एक बलवान् पुरुष में कामादि

वासनाओं के शोषण की शक्ति न रहे तो उसका बल अत्यन्त दुरुपयुक्त होने लगता है। जितना-जितना हमारा बल बढ़े उतनी-उतनी हमारी वासना-शोषणशक्ति भी प्रवृद्ध हो, जिससे हम बढ़े हुए बल के कारण कहीं अधिक वासनाओं के शिकार न हो जाएँ। २. **गिर्वणसे**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाले के लिए **आङ्गूषम्** (=आघोषम् स्तोमम्)=उच्च स्वर से उच्चारण योग्य स्तुतिसमूह को उसी प्रकार (प्रमन्महे)=चाहते हैं **अङ्गिरस्वत्**=जैसेकि यह स्तुतिसमूह अङ्गिरा को प्राप्त हुआ। अङ्गिरा को अथर्ववेद=ब्रह्मवेद मिला, इस गिर्वण के लिए भी हम इसे चाहते हैं। वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला जब **ऋग्वेद**=विज्ञानवेद को पढ़ेगा तो इन अङ्गिरा के आंगूषों=ब्रह्ममन्त्रों के बिना वह विज्ञान का हिंसात्मक प्रयोग करनेवाला बन जाएगा। वैज्ञानिक उन्नति के साथ ब्रह्म के **आङ्गूष**=(उच्च स्वर में गेय स्तोत्र) चलेंगे तो यह संकट जाता रहेगा। विज्ञान के साथ ब्रह्म-स्मरण जुड़ा तो विज्ञान निर्माण में ही नियुक्त होगा, ध्वंस में नहीं। ३. **सुवृक्तिभिः**=उत्तम वर्जनों से, अर्थात् बुराइयों को पूरी तरह त्यागने से **स्तुवते**=उस प्रभु का स्तवन करनेवाले के लिए, असत् को छोड़कर सत् को प्राप्त करनेवाले के लिए तथा **ऋग्मियाय**=ऋचाओं को प्रशस्तता से प्राप्त करनेवाले के लिए **अर्चाम्**=पूजा को **प्रमन्महे**=चाहते हैं। लोक में आदर उसी को दिया जाए जो बुराइयों को छोड़ता है तथा उत्तम विज्ञान को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति मन व मस्तिष्क दोनों की उन्नति करता है वही लोगों के आदर का पात्र बने। ४. लोग तो इसका आदर करें, परन्तु यह कहीं गर्वयुक्त न हो जाए, अतः हम इस **विश्रुताय**=दूर-दूर तक विशिष्ट प्रसिद्धि को प्राप्त **नरे**=मनुष्य के लिए **अर्कम्**=प्रभु-स्तवन को **आप्रमन्महे**=ख़ूब ही चाहते हैं। यह 'विश्रुत नर' सदा प्रकर्षेण प्रभुस्मरण में लगा रहेगा तो यह लोगों से दिये गये अर्चन=सत्कार से अभिमान में न आएगा। व्यक्ति साधना करके प्रायेण संसार में ऊँचा उठता है, लोग उसका आदर करने लगते हैं, आदर में अतिशय वृद्धि को वह ठीक पचा नहीं पाता, अतः गर्वित हो जाता है और एक पन्थ का प्रवर्तक बन जाता है। यह स्वयं ही प्रभु के साथ पुजने लग जाता है। यह 'विश्रुत नर' सदा प्रभु-स्मरण में लगा रहेगा तो अपनी तुच्छता को लोकसम्मान के भुलावे में आकर भूल न जाएगा और इस प्रकार अभिमान का शिकार भी न होगा।

भावार्थ—(क) बलवान् पुरुष वासनाओं की शोषण-शक्ति से सम्पन्न हो, (ख) उच्च विज्ञान को प्राप्त करनेवाला प्रभु-स्तोमों को भी प्राप्त करनेवाला बने, (ग) लोगों का आदरणीय वही हो जिसने पापों का पूर्ण वजर्न करके प्रभु के उपासक के साथ ऊँचे विज्ञान के अध्ययन को जोड़ दिया है, (घ) यह लोगों से आदर को प्राप्त 'विश्रुत' (Well-known) नर सदा प्रभु-स्तवन में लगा रहे, जिससे अभिमान का शिकार न हो जाए। यही जीवन स्तुत्य जीवन है। इस स्तुत्य=नव (नू स्तुतौ) जीवन को धारण करनेवाला 'नवधा'=नोधा प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। इसी का वर्णन १७वें मन्त्र में भी है।

ऋषिः—**नोधाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

गो-विन्द

प्र वो॑ म॒हे म॒हि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्यं॑ शवसा॒नाय॒ साम॑।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञाऽअर्च॑न्तो॒ऽअङ्गि॑रसो॒ गाऽअ॑विन्दन्॥१७॥

१. नोधा ऋषि कहते हैं कि **वः**=तुम्हारी **महे**=(महसे) तेजस्विता के लिए **महि नमः**=पूज्य नमन की भावना को **प्रभरध्वम्**=अपने अन्दर ख़ूब धारण करो। मनुष्य

प्रभु-प्रवण बनता है तभी विषयों से बचकर शक्ति की रक्षा करता हुआ तेजस्वी बन पाता है। २. तेजस्वी बनकर **शवसानाय**=(अभिबलायमानाय) सर्वतः बलपुञ्ज की भाँति आचरण करनेवाले के लिए आवश्यक है कि वह **आङ्गूष्यम् साम**=ऊँचे-ऊँचे उच्चारण के योग्य उपासना-मन्त्रों को अपने में धारण करे, जिससे उस शक्ति की वृद्धि के कारण उसका आचरण वासनामय न हो जाए। ३. सामान्य क्रम यह है कि (क) वासना-विजय से शक्ति प्राप्त होती है, (ख) शक्तिवृद्धि होने पर वासनाओं के बढ़ने की आशंका हो जाती है, अतः शक्ति-प्राप्ति के लिए भी प्रभु-नमन आवश्यक है और शक्तिप्राप्ति के बाद भी उस शक्ति को नाश से बचाने के लिए प्रभु-नमन और अधिक आवश्यक हो जाता है। ४. 'शक्तिप्राप्ति के लिए प्रभु-नमन और शक्ति के रक्षण के लिए प्रभु-नमन' यह मार्ग है **येन**=जिस मार्ग से **नः**=हमारे (क) **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, (ख) **पितरः**=रक्षण व पालन करनेवाले, (ग) **पदज्ञाः**=वेदशब्दों के रहस्य को समझनेवाले, (घ) **अर्चन्तः**=उपासक, (ङ) **अङ्गिरसः**=एक-एक अङ्ग के रस-(शक्ति)-वाले लोग **गाः**=इन्द्रियों को **अविन्दन्**=प्राप्त करते थे, अर्थात् पूर्ण जितेन्द्रिय बनते थे। **गाः**=का अर्थ 'वेदवाणियों को' भी किया जा सकता है, ये लोग वेदवाणियों को पूर्णरूप से प्राप्त करनेवाले होते थे। यह एक नवीन जीवन होता है, अतः ये 'नवधा' या नोधा नामवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन का प्रारम्भ प्रभु-नमन से हो और हमारे जीवन का अन्त भी प्रभु-नमन से हो।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्राप्ति का अभिलाषी

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांऽसि।
तितिक्षन्तेऽअभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः॥१८॥

हे प्रभो! **त्वा**=आपको **इच्छन्ति**=चाहते हैं, कौन? जो १. **सोम्यासः**=विनीत, निरभिमान हैं। प्रकृति की ओर जानेवाले, प्रकृति में आसक्त हुए-हुए असुर लोग तो स्वयं अपने को ही 'ईश्वर' मानने लगते हैं **'कोन्योऽस्ति सदृशो मया'**='मेरे-जैसा दूसरा कौन है?' इन शब्दों में उनका अभिमान व्यक्त होता है। २. **सखायः**=ये मित्र होते हैं। प्रभु के चाहनेवाले परस्पर मित्रता के भाव से वर्तते हैं। ३. **सोमम् सुन्वन्ति**=अपने में सोम=शक्ति का अभिषव—उत्पादन करते हैं। प्रभु की व्यवस्था के अनुसार आहार का अन्तिम परिणाम सोम है, इस सोम को ये अपने अन्दर ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। इस सोम ने ही इनकी ज्ञानाग्नि का समिन्धन करना है और इनकी बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रभु-दर्शन योग्य बनाना है। ४. **प्रयांसि दधति**=त्यागमय प्रयत्नों को (प्रयस्=प्रयत्न, sacrifice=त्याग) ये धारण करते हैं, अर्थात् ये प्रयत्नशील तो होते ही हैं, परन्तु इनके सब प्रयत्न त्याग की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। ५. इस प्रकार त्याग व यत्न को मिलाकर जब ये लोगों के हितसाधन में लगे होते हैं उस समय वे लोग, अपनी नासमझी के कारण इन्हें बुरा-भला कहते हैं, गालियाँ देते हैं, परन्तु ये प्रभु-प्रवण लोग **जनानाम्**=उन मनुष्यों के **अभिशस्तिम्**=दुर्वचनों को ले-नहीं लेते, उन्हीं के पास रहने देते हैं। ये लोग सामान्य मनुष्यों से बहुत ऊपर उठे होते हैं, ये मनुष्य नहीं देव प्रतीत होते हैं। वेद कहता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वत् हि**=आपका ही **कश्चन**=कोई अवर्णनीय-सा **प्रकेतः**=प्रकाश **आ**=सब ओर इन व्यक्तियों में दिखता है। वस्तुतः इन लोगों का यह असामान्य मनःप्रसाद इनमें प्रभु के

प्रकाश के ही कारण होता है। ये लोग सदा प्रभु के प्रिय देवों के साथ उठते-बैठते हैं, उन्हीं की ज्ञान-चर्चाओं को सुनते हैं, अतः 'देवश्रव' कहलाते हैं, उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, अतः 'देववात' नामवाले होते हैं। ये लोग पत्थरों का उत्तर पुष्पों से देते हैं, घृणा का प्रेम से।

भावार्थ—हम सौम्य, स्नेहवाले, सोम (शक्ति) का पान करनेवाले, सात्त्विक कर्मों का सेवन करनेवाले, सहनशील बनकर प्रभु-प्राप्ति के अभिलाषी बनें।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'यज्ञ, भक्ति व ज्ञान' का समन्वय

न ते दूरे परमा चिद्रजाꣳस्या तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम्।
स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः समिधानेऽअग्नौ ॥१९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु 'देवश्रव' से कहते हैं—१. हे देवश्रव! वे उत्कृष्ट लोक, जिन्हें तूने प्राप्त करना है, **ते दूरे न**=तुझसे दूर नहीं हैं। सौम्य, सखा, सोमपायी, सत्त्वस्थ व सहनशील बनकर तू उन लोकों के समीप पहुँच गया है। हे **हरिवः**=उत्कृष्ट इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले! **हरिभ्याम्**=अपने इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों से **तु चित्**=निश्चय से **परमा रजांसि**=उत्कृष्ट लोकों में **आप्रयाहि**=सवर्था आ। प्रभु ने हमारे इस शरीररूप रथ में इन्द्रियरूप घोड़े जोते तो इसीलिए हैं कि हम इनके द्वारा उत्कृष्ट लोकों में पहुँच सकें, परन्तु सामान्यतः हीनाकर्षण के कारण हम उत्कर्ष के मार्ग पर न चलकर अपकर्ष के मार्ग पर भागे चले जाते हैं, परन्तु 'देवश्रवदेववात' उत्तम ज्ञान व प्रेरणा प्राप्त करता हुआ उत्कृष्ट लोकों की ओर ही बढ़ता है। २. इस देवश्रव की बुद्धि विषयों से आन्दोलित नहीं होती, यह स्थितप्रज्ञ बना रहता है। **स्थिराय**=इस स्थिर बुद्धिवाले **वृष्णे**=शक्तिशाली पुरुष के लिए **इमा सवना कृता**=ये यज्ञ बनाये गये हैं। उस 'अक्षर ब्रह्म' (प्रभु) ने वेदों में यज्ञों का प्रतिपादन किया है, जिससे ये स्थिर बुद्धिवाले शक्तिशाली पुरुष इन यज्ञों के करने में अपने समय का सद्व्यय कर पाएँ। ३. ये यज्ञों में लगे हुए 'देवश्रव' लोग **अग्नौ समिधाने**=यज्ञों में अग्नि के दीप्त होने पर **युक्ताः**=योगयुक्त होते हैं तथा **ग्रावाणः**=उत्कृष्ट वेदगिरा (वेदवाणी) के उपदेष्टा बनते हैं। ये केवल यज्ञों में ही अपने जीवन को समाप्त नहीं कर देते। यज्ञों के साथ ये योग का अभ्यास करते हैं, अपने मन की वृत्तियों को प्राणनिरोध द्वारा केन्द्रित करके ये उस प्रभु में अपने को युक्त करते हैं तथा इस निरुद्ध चित्तवृत्ति को ज्ञानोपार्जन में लगाके, स्वयं ऊँचे ज्ञानी बनकर, उस ज्ञान का उपदेश देनेवाले होते हैं। इस प्रकार ये अपने जीवन में 'कर्म, भक्ति व ज्ञान' तीनों ही बातों का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। केवल यज्ञों से ये अपने को कृतकृत्य नहीं मान बैठते।

भावार्थ—'देवश्रव' का जीवन 'यज्ञ, भक्ति व ज्ञान' का समन्वय करके चलता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

गोतम के दश गुण

अषाढं युत्सु पृतनासु पप्रिꣳ स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।
भरेषुजाꣳसुक्षितिꣳसुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम॥२०॥

१. **युत्सु अषाढम्**=युद्धों में पराभूत न होनेवाले मनुष्य की हृदयस्थली पर दैवी व आसुरी वृत्तियों का सतत युद्ध चलता है। इस निरन्तर चल रहे देवासुर संग्राम में न पराजित

होनेवाले पुरुष को ही हम **अनुमदेम**=अनुमोदित करते हैं, अर्थात् 'आदमी' तो हम इसे ही मानते हैं। २. **पृतनासु पप्रिम्**=(पृतना संग्रामनाम–नि० २।१७) संग्राम में अपना पालन व पूरण करनेवाले। अध्यात्मसंग्राम तो निरन्तर चलता है। समाज में भी संघर्ष आ जाते हैं। इन संघर्षों में यह अपना रक्षण करता है, जिससे कहीं रोगों व ईर्ष्यादि का शिकार न हो जाए। 'संघर्ष शक्ति पैदा करता है' 'Resistance creates power' इस नियम का ध्यान करता हुआ यह संग्रामों का स्वागत करता है। ३. **स्वर्षाम्**=(स्वः सन्) यह प्रकाश का सेवन करनेवाला होता है। 'स्वः' का अभिप्राय 'स्वर्ग' भी है, परन्तु यहाँ प्रकाश अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। यह अपने अन्दर ज्ञान के प्रकाश को बढ़ाने के लिए यत्नशील होता है। ४. **अप्साम्**=(अप् सन्) उस ज्ञानप्रकाश के कारण ही यह सदा (आप्=व्याप्ति) व्यापक, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए कर्मों का सेवन करनेवाला बनता है। ज्ञान इसे स्वार्थमय कामनाओं से ऊपर उठाता है और यह परार्थ की भावना से प्रेरित होकर व्यापक हित के कार्यों में लगा रहता है। ५. **वृजनस्य गोपाम्**=इस प्रकार परार्थ के कामों में लगा हुआ यह व्यक्ति कभी विषयासक्त नहीं बनता और बल का रक्षक होता है। (वृजनम्=बल–नि० २।९) ६. इसी सुरक्षित बल के कारण **भरेषुजाम्**=(भरणीयेषु संग्रामेषु जेतारम् द०) यह संग्रामों में सदा विजयी होता है। (भरेषु जनयति) संग्रामों में यह अपनी शक्ति का प्रादुर्भाव करनेवाला होता है, कभी निराश नहीं होता। ७. **सुक्षितिम्**=(क्षि निवासगत्योः)=संग्रामों में विजयी बनकर यह उत्तम निवास व गतिवाला होता है। ८. **सुश्रवसम्**=उत्तम कीर्तिवाला होता है ९. **जयन्तम्**=जीतता-ही-जीतता है, यह हारता नहीं। १०. इतना कुछ होने पर भी यह अभिमानी नहीं हो जाता, विनीत ही बना रहता है, अतः कहते हैं कि हे **सोम** =सब दिव्य गुणों से युक्त होकर भी विनीत बने हुए प्रशस्ततम इन्द्रियोंवाले 'गोतम' **त्वाम् अनुमदेम**=हम तुझे अनुमोदित करते हैं। (We cheer you up) आपके जीवन की हम प्रशंसा करते हैं।

सूचना–अधिभौतिक अर्थ में 'ऐसे राजा को हम अनुमोदित करते हैं' यह अर्थ होगा। जो राजा युद्धों में पराजित नहीं होता, संग्रामों में सैनिकों की रक्षा करता है, राष्ट्र को स्वर्ग बनाता है, प्रजा को प्राप्य होता है, राष्ट्र की शक्ति की रक्षा करता है, संग्राम विजयी, उत्तम भूमिवाला, कीर्तिमान व सदा विजयी होता है। ऐसा होता हुआ भी अंहकार से दूर होता है।

भावार्थ–'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष के जीवन में उपर्युक्त दस बातें अवश्य होती हैं।

ऋषिः–**गोतमः**। देवता–**सोमः**। छन्दः–**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः–**पञ्चमः**॥

उत्तम सन्तान

सोमो धेनुꣳसोमोऽअर्वन्तमाशुꣳसोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यꣳसभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥२१॥

पिछले मन्त्र में वर्णित उत्कृष्ट जीवनवाले व्यक्तियों का निर्माण घरों में ही होगा। घरों में प्रत्येक गृहस्थ अपने सन्तान को उत्तम बनाए। वस्तुतः 'माता-पिता की प्रवृत्ति प्रभु-प्रवण होगी, वे प्रकृति में फँसे हुए न होंगे' तभी वे सन्तानों को अच्छा बना पाएँगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **सोमः**=वे सोम प्रभु उन माता-पिता को उत्तम सन्तान प्राप्त कराते हैं **यः**=जो **अस्मै**=इनके लिए **ददाशत्**=अपना समर्पण करते हैं, अर्थात् अन्तःस्थित उस प्रभु के निर्देशों के अनुसार जीवनयापन करने पर प्रभु हमारे सन्तानों को बड़ा अच्छा बना देते हैं। **सोमः**=वे सोम सन्तान **ददाति**=देते हैं। कैसे सन्तान को? १. **धेनुम्**=(धेट् पाने) अपने अन्दर उत्पन्न हुई-हुई सोम-(वीर्य)-शक्ति का पान करनेवाले को। यह सोमशक्ति का पान

आगे आनेवाली सारी उन्नतियों का मूल है, अतः सर्वप्रथम इसी का उल्लेख है। २. **अर्वन्तम्**=(अर्व हिंसायाम्) सोमरक्षा के द्वारा शरीर में सब रोगकृमियों को तथा मन में सब ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाओं की हिंसा करनेवाले को। सुरक्षित सोम ही वह मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र है जो सब रोगों को दूर करता है। सोमी पुरुष ईर्ष्या-द्वेषादि से ऊपर उठा रहता है। ३. **आशुम्**=(अश् व्याप्तौ) शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले को। इसका जीवन स्फूर्तिमय होता है। आलस्य इसे कभी नहीं घेरता। ४. वे **सोमः**=सोम **वीरम्**=वीर सन्तान को **ददाति**=देते हैं। संसार में यह कभी कायर नहीं बनता। संसार-संघर्ष में घबरा नहीं जाता। आनेवाले विघ्नों का वीरता से मुक़ाबला करता है। ५. **कर्मण्यम्**=उत्तम कर्मवाले को। प्रभु-प्रवण पति-पत्नी की सन्तान सदा क्रियाशील होती है। ६. **सादन्यम्**=यह सदन=घर का उत्तम निर्माण करनेवाला होता है। ७. **विदथ्यम्** =यह सन्तान ज्ञानयज्ञों में शोभावाला होता है। ८. **सभेयम्**=सभा में सभ्योचित व्यवहारवाला होता है, और ९. **पितृश्रवणम्**=माता-पिता की आज्ञा सुननेवाला होता है, उनका आज्ञाकारी बनता है।

यहाँ मन्त्र में प्रभु का 'सोम' नाम से स्मरण किया है। इसका अर्थ (स उमा)=पूर्ण ज्ञानवाला, शान्त व शक्ति का पुञ्ज है। वस्तुतः सन्तान में यही गुण इष्ट हैं कि वे ज्ञानी हों, शान्त हों, सशक्त हों।

भावार्थ—गृहस्थ प्रभुभक्त होंगे तो उत्तम सन्तान का निर्माण कर पाएँगे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

बाल-प्रभु-भजन

त्वमि॒माऽओष॑धीः॒ सोम॒ विश्वा॒स्त्वम॒पोऽअ॑जनय॒स्त्वं गाः।
त्वमा त॑तन्थो॒र्वन्तरि॑क्षं॒ त्वं ज्योति॑षा॒ वि तमो॑ ववर्थ॥२२॥

प्रभुभक्त माता-पिता सन्तानों को भी प्रभु-भजन में सम्मिलित करते हैं और उनसे प्रतिक्षण प्रयुक्त होनेवाले फूल-फल के विषय में—पानी व गौ आदि पशुओं के विषय में प्रश्न करते हैं कि 'इन्हें बनानेवाला कौन है?' वे धीमे-धीमे उन बालकों का ध्यान प्रभु की ओर लाने का प्रयत्न करते हैं, फिर निम्न शब्दों में बालकों का प्रभु-भजन चलता है।

हे **सोम**=शान्त प्रभो! जिन आपकी क्रिया अत्यधिक व महान् होती हुई भी बड़ी शान्ति से चल रही है, ऐसे **त्वम्**=आप ही **इमाः विश्वाः ओषधीः**=इन सब ओषधियों को **अजनयः**=उत्पन्न करते हैं, **त्वम्** =आप ही **अपः**=इन (शान्त-निर्मल) जलों को उत्पन्न करते हैं। **त्वम्**=आपने ही हमारे दूध आदि पदार्थों के लिए **गाः**=गौ आदि पशुओं को बनाया है। ठीक बात तो यह है कि **त्वम्**=आपने ही इस विशाल **अन्तरिक्षम्**=आकाश को **आततन्थ**=चारों ओर अनन्त-सी दूरी तक विस्तृत किया है और **त्वम्**=आप ही **ज्योतिषा**=इन सूर्य, चन्द्र व तारों आदि के प्रकाश से **तमः**=अन्धकार को **विववर्थ**=दूर करते हैं।

समझदार माता-पिता प्रश्नोत्तर के द्वारा अपने सन्तानों के मस्तिष्क में उल्लिखित बातों को अंकित करते हैं—वे फूल-फल, नदियों, पर्वतों के दृश्यों से प्रभावित सन्तानों को उनके निर्माता के विषय में सोचने के लिए प्रेरित करते हैं और जब सन्तानें प्रभु का कुछ आभास देखने लगती हैं तब उल्लिखित स्वाभाविक स्तवन उनके मुख से उच्चारित होता है। जिन घरों में इस प्रकार प्रभु-भजन चलेगा वहाँ सन्तान सद्गुणी, पिछले मन्त्र में वर्णित विशेषताओंवाले क्यों न बनेंगे?

भावार्थ—माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तानों में भी प्रभु-भक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इहलोक व परलोक का साधक—'उभय'

देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागꣳसहसावन्नभि युध्य।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्र चिकित्सा गविष्टौ ॥२३॥

प्रस्तुत मन्त्र में घर के बड़े व्यक्ति, जो घर के सञ्चालन के लिए धनार्जन के कार्य में लगे हैं, प्रार्थना करते हैं कि हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! **सहसावन्**=हे शक्तिशाली प्रभो! **नः**=हमें **देवेन मनसा**=दिव्य गुणों से युक्त मन के साथ **रायः भागम्**=धन के सेवनीय अंश को **अभियुध्य**=सब ओर से प्राप्त कराइए। इस प्रार्थना में प्रभु को जिन नामों से सम्बोधन किया है वे नाम स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि हम अपने धनार्जनादि लौकिक कार्यों में (देव) दिव्य बने रहें, अच्छे गुणों को तिलाञ्जलि न दे दें। हम धन को देवोचित मार्गों से ही कमाएँ, (सोम) इन कार्यों में कभी मानस शान्ति को न खो बैठें। (सह स्तवन) धन को अपने बल व पुरुषार्थ से ही कमानेवाले बनें। धनादि के व्यवहारों में चलते समय हमारा मन 'देव-मन' बना रहे। ये धनादि का अर्जन करनेवाला व्यक्ति हे प्रभो! **त्वा**=आपको **मा तनत्**=मत पतला कर दे (तन्=to make thin), अर्थात् आपके स्मरण को ढीला न कर दे। यह अपना प्रत्येक दिन आपके स्मरण से ही प्रारम्भ करे और आपके स्मरण के साथ ही समाप्त करे, क्योंकि **वीर्यस्य ईशिषे**=सब शक्ति के ईश तो आप ही हैं। आपके सम्पर्क से ही इसे शक्ति मिलनी है। हे प्रभो! ये व्यक्ति जो दिन में दिव्य मनों के साथ धनादि के अर्जन में लगे रहते हैं और प्रातः-सायं आपके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने में यत्नशील होते हैं और इस प्रकार अभ्युदय व निःश्रेयस—इहलोक व परलोक दोनों का ही ध्यान करते हैं। इन **उभयेभ्यः**=लोक-परलोक का ध्यान करनेवालों के लिए **गविष्टौ** (गो इष्टि, गावः इन्द्रियाणि)=इन्द्रियों से चल रहे इस जीवन-यज्ञ में **प्रचिकित्सा**=आनेवाले रोगादि विघ्नों का प्रकर्षेण निवारण कीजिए। विघ्नों व न्यूनताओं के दूर होने से इन्द्रियाँ अधिक प्रशस्त हो उठती हैं और यह प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष सचमुच 'गो-तम' इस नामवाला होता है।

भावार्थ—हम मन को पवित्र रखते हुए सुपथ से धनादि का अर्जन करें और प्रभु-स्मरण की भावना को ढीला न होने दें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविताः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वरणीय रत्नों का आधान

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देवऽआगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि॥२४॥

१. **सविता देवः**=सबको कर्म में प्रेरित करनेवाला—देदीप्यमान व प्रकाश देनेवाला सूर्य **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अष्टौ**=आठों **ककुभः**=दिशाओं को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। चार पूर्वादि दिशाएँ हैं, चार उपदिशाएँ हैं, इस प्रकार आठ दिशाओं की कल्पना हुई है। यह पृथिवी वेद के अनुसार 'देवयजनी'=देवताओं के यज्ञ करने का स्थान है, देवयज्ञशाला है। इसी के अनुकरण में यज्ञशालाओं को प्रायः अष्टकोण बनाने की परिपाटी हो गई है। २.

यह सविता देव **त्री योजना धन्व**=तीनों (प्राणिनः स्वस्वभोगेन योजयितॄन्) प्राणियों को विविध भोग प्राप्त करानेवाले अन्तरिक्षों को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। तीन अन्तरिक्षलोकों का उल्लेख निम्न मन्त्रों में स्पष्ट है–(क) **तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीः उपराः षड् विधानाः** (ऋ० ७।८७।५) (ख) **तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्** (ऋ० २।२७।८)। (ग) **तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति** (ऋ० १।१६४।१०) (घ) **एष लोकः त्रिवृत् योऽयमन्तरा** (तां० ११।१०) (ङ) **अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्** (जै०उ० १।५५।३) (च) **अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः** (घ० १।५)। यजुर्वेद भी तीन भागों में बँटा हुआ है, उसी प्रकार अन्तरिक्षलोक। यजुर्वेद का पहला भाग ३८ अध्याय तक है, इसमें विविध यज्ञों का प्रतिपादन है। दूसरा भाग ३९वाँ अध्याय है, इसमें यज्ञ करनेवाले को गर्व न होने देने के लिए अन्त्येष्टि का वर्णन है। तीसरा भाग ४०वाँ अध्याय है, इसमें कहते हैं कि हे जीव! सब-कुछ करनेवाले वे प्रभु ही हैं, उन्हीं के आधार में स्थित होकर तेरे माध्यम से भी कर्म चल रहे हैं। इसी प्रकार अन्तरक्षि भी तीन भागों में बँटा है और उन सबको वह सविता देव प्रकाशित कर रहा है। (छ) **सप्त सिन्धून्**=सातों समुद्रों को भी वह सविता देव प्रकाशित करते हैं। यह **हिरण्याक्षः**=ज्योतिर्मय आँखोंवाला सविता देव **आगात्**=आया है और **दाशुषे**=हवि देनेवाले के लिए **वार्याणि रत्ना**=वरणीय उत्तम रत्नों को **दधत्**=धारण करता है। स्पष्ट है कि सूर्योदय के समय घर पर अग्निहोत्र करना चाहिए। ऐसा करने पर यह सूर्य इस दाश्वान् को स्वास्थ्यादि उत्तम रत्नों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ–'सूर्योदय के समय अग्निहोत्र करना और इस प्रकार स्वास्थ्यादि उत्तम रत्नों को प्राप्त करना' हमारा महान् कर्त्तव्य है।

ऋषिः–**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता–**सविता**। छन्दः–**निचृज्जगती**। स्वरः–**निषादः**॥

स्वर्ण की सुइयाँ (Gold Injections)

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवीऽअन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥२५॥

१. **हिरण्यपाणिः**=स्वर्ण है हाथ में जिसके, ऐसा **सविता**=सबका प्रेरक **विचर्षणिः**=विश्वद्रष्टा (सर्वप्रकाशक) सूर्य **उभे द्यावापृथिवी अन्तः**=इन दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ईयते**=गति करता है। सूर्य की किरणें ही सूर्य के हाथ हैं। इन किरणरूप हाथों में सूर्य हिरण्य=स्वर्ण को लेकर आता है, जिस प्रकार एक वैद्य क्षय-पीड़ित को स्वर्ण के इंजैक्शन देता है, उसी प्रकार यह सूर्य अपनी किरणों से स्वर्ण को शरीर में प्रविष्ट करता प्रतीत होता है। यह सबको कर्म में प्रवृत्त करने से 'सविता' है। सबको प्रकाशित करने से 'विचर्षणि' है। २. उदय होता हुआ सूर्य जब इन किरणरूप हाथों से स्वर्ण के इंजैक्शन लगाता है तब **अमीवाम्**=रोगकृमियों को **अपबाधते**=सुदूर नष्ट कर देता है। **'उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः'**=(अथर्व०) उदय और अस्त होता हुआ सूर्य किरणों से कृमियों का संहार करता है। ३. **सूर्यम्**=ज्योति तथा वर्च को (सूर्यो ज्योतिः, सूर्यो वर्चः) **वेति**=(वी=प्रजनन) उत्पन्न करता है। सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आने से मस्तिष्क में ज्योति का उदय होता है तो शरीर वर्चस्वी बनता है। ४. यह सविता देव **कृष्णेन**=अन्धकार के निवर्तक **रजसा**=तेज से **द्याम्**=द्युलोक को **अभिऋणोति**=समन्तात् व्याप्त करता है, अथवा **अभिकृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट **रजसा**=लोकसमूह के साथ

द्याम् ऋणोति=द्युलोक में गति करता है। सूर्य अपने आकृष्ट लोकसमूह के साथ आकाश में आगे-और-आगे चल रहा है।

भावार्थ—सूर्य की किरणें स्वर्णमय हैं, उनके सेवन से सब रोग दूर होते हैं। ज्योति व वर्चस् की उत्पत्ति के लिए सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहना आवश्यक है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्यरूप धन की प्राप्ति

हिरण्यहस्तोऽअसुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः॥ २६॥

१. **हिरण्यहस्तः**=सुवर्णमय हाथवाला। यही भावना पिछले मन्त्र में 'हिरण्यपाणिः' शब्द से व्यक्त हुई है। पाणि शब्द में रक्षा करने की भावना थी तो हस्त शब्द में (हस्तो हन्तेः) नष्ट करने का भाव है। सूर्य अपनी किरणों में विद्यमान स्वर्ण के प्रभाव से हमारे शरीरों की रक्षा करता है और रोगों का नाश करता है। २. **असुरः**=(असून् राति) यह प्राणशक्ति देनेवाला है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**= यह सूर्य क्या उदय होता है, प्रजाओं का प्राण ही उदय होता है। ३. **सुनीथः**=सर्वत्र प्रकाश फैलाने के कारण उत्तम मार्गों से ले-चलता है। ४. **सुमृडीकः**=उत्तम मार्ग से ले- चलकर हमारे जीवनों को उत्तम सुख प्राप्त कराता है। ५. **स्ववान्**=यह उत्तम धनवाला है। स्वास्थ्य ही सर्वोत्तम धन है और उसे प्राप्त कराने में यह सूर्य सर्वमहान् सहायक है। ६. यह सूर्य **यातुधानान्**=शरीर में शतशः पीड़ाओं का आधान करनेवाले **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमिरूप राक्षसों को **अपसेधन्**=दूर करता हुआ **अर्वाङ् यातु**=हमें अभिमुखता से प्राप्त हो। हम सूर्याभिमुख होंगे तो रोगकृमियों का संहार होकर हमें स्वास्थ्यरूपी धन की प्राप्ति होगी। ७. उल्लिखित कारणों से ही 'हिरण्यहस्त, असुर, सुनीथ, सुमृडीक व स्ववान्' होने से ही यह **देवः**=दिव्य गुणोंवाला प्रकाशमय सूर्य **प्रतिदोषम्**=प्रतिरात्रि, अर्थात् सदा **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ **अस्थात्**=ठहरता है, अर्थात् सूर्य के महत्त्व को समझनेवाले लोग सदा सूर्य का स्तवन करते हैं। उसके गुणों का प्रतिदिन स्मरण करते हैं।

भावार्थ—रोगकृमियों के संहार के लिए प्रातः-सायं सूर्याभिमुख होकर ध्यान करना अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्ग कैसे हों? सविता का उपदेश

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृताऽअन्तरिक्षे।
तेभिर्नोऽअद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नोऽअधि च ब्रूहि देव॥ २७॥

हे **सवितः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्यदेव! **ये**=जो **ते**=तेरे **पन्थाः**=मार्ग **अन्तरिक्षे**=इस विशाल आकाश में **सुकृताः**=उतम प्रकार से बनाये गये हैं जो **पूर्व्यासः**=हमारी सब आवश्यकताओं का पूरण करनेवाले हैं और **अरेणवः**=धूलिरहित हैं **तेभिः**=उन **सुगेभिः**=सुगमता से गति के योग्य **पथिभिः** =मार्गों से **नः**=हमें **अद्य**=आज **रक्ष**=सुरक्षित कीजिए, **च**=और हे **देव**=दिव्य प्रकाश देनेवाले सूर्य! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=खूब उपदेश दीजिए। 'हमारे जीवन का मार्ग क्या हो?' यह हम आपसे जान सकें।

'रास्ते कैसे हों?' इस प्रश्न का उतर यह है कि १. **पूर्व्यासः**=पूरण करनेवाले, आवश्यतओं को पूरा करनेवाले हों। जैसे पैदल के चलने का मार्ग, गाड़ियों का मार्ग ये सब अलग-अलग हों। २. **अरेणवः**=उन मार्गों पर धूल न हो। धूलवाले मार्ग फेफड़ों की बीमारियों के कारण बनेंगे? ३. **सुकृताः**=ये मार्ग अच्छे प्रकार बने हुए हों—ठोकरें न लगती रहें। ४. मार्ग ऊबड़-खाबड़ न होकर **'सु-ग'** हों।

मनुष्य प्रतिदिन उदय होते हुए सूर्य से उपदेश ग्रहण करे। १. जैसे सूर्य बड़े नियम से उदय होता है उसी प्रकार मनुष्य नियमित जीवनवाला हो, उसका जीवन clock-wise नहीं sun-wise चले **'स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'**। २. सूर्य सभी को प्रकाश देता है, सूर्य के व्यवहार में पक्षपात नहीं। मनुष्य भी सबमें समभाव रक्खे। ३. सूर्य निर्लेपभाव से अपना कार्य करता चलता है, किसी की स्तुति-निन्दा से वह अपमानित नहीं होता। मनुष्य को भी चाहिए कि अपने कर्त्तव्यकर्म को करता चले, अकर्त्तव्य को कभी न करे। इस प्रकार सूर्य से उपदेश लेकर कोई कभी हिंसित नहीं होता। सूर्य का सर्वमहान् उपदेश यह इस रूप में लेता है कि जैसे सूर्य पानी की ऊर्ध्वगति का कारण बनता है, उसी प्रकार यह अपने शरीर में वीर्य (हिरण्य) की ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्य-स्तूप' हो जाता है। वीर्य की ऊर्ध्वगति के कारण ही यह शक्तिशाली अङ्गोंवाला 'आङ्गिरस' बन जाता है।

भावार्थ—सूर्य से हम अपने जीवन के मार्ग का निश्चय करें। नियमित, निष्पक्ष, निर्लेप जीवनवाले हों और वीर्य की ऊर्ध्वगति का पूर्ण ध्यान करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

आश्विनों का सोमपान

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः॥२८॥

१. पिछले चार मन्त्रों में सविता की आराधना थी। सविता की अराधना का अभिप्राय इतना ही है कि इस समय मुख्यरूप से प्राणसाधना होनी चाहिए। उस प्राणसाधना का ही प्रस्तुत तीन मन्त्रों में उल्लेख है और इसके बाद फिर ३१वें मन्त्र में हिरण्यस्तूप ऋषि सविता का स्तवन करेंगे। इन मन्त्रों में प्राणसाधना के द्वारा कण-कण करके अभद्रता को दूर करके भद्र वस्तुओं को अपने अन्दर भरनेवाला 'प्रस्कण्व' कहलाता है। यह प्रस्कण्व ही मेधावी=समझदार है। प्राणसाधना को जीवन का मूलाधार समझना चाहिए। २. प्रस्कण्व कहता है—हे **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापानो! **पिबतम्**=तुम सोम का पान करो। वस्तुतः प्राणसाधना का सर्वप्रथम लाभ यही है कि शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति शरीर में ही व्याप्त हो जाती है। इसी शक्ति ने शरीर को रोगों के आक्रमण से बचाना है। इस शक्ति के होने पर मन ईर्ष्या-द्वेष आदि से बचा रहता है, इसी शक्ति ने ही बुद्धि की कुण्ठा को दूर करना है। ३. इस प्रकार सोमपान के द्वारा हे प्राणापानो! आप **उभा**=दोनों **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण व सुख **यच्छतम्**=दीजिए। वास्तविक सुख 'शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य' में ही है। ४. हे प्राणापानो! **अविद्रियाभिः**=(द्रा=निन्दित) अनिन्दित, प्रशस्त अथवा (दृ=विच्छेद) अविच्छिन्न **ऊतिभिः**=गतियों, क्रियाओं के द्वारा आप हमें सुखी कीजिए। प्राणसाधना के ठीक चलने पर सोमरक्षा द्वारा हमारा मन अशुभ विचारोंवाला होगा ही नहीं और परिणामतः हमारी क्रियाएँ भी उत्तम होंगी। शरीर के स्वास्थ्य के कारण 'आलस्य' न होगा, मन के स्वास्थ्य के कारण 'अशोभा' नहीं होगी और बुद्धि के स्वास्थ्य के कारण उन कर्मों में 'औचित्य' होगा। इस प्रकार ये प्राणापान हमारे जीवनों को कल्याणमय कर रहे होंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की रक्षा होकर सब कार्य पवित्र होते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

कर्मवीर

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।
अद्यूत्येऽवसे निह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥२९॥

प्राणसाधना के मुख्य लाभ का गतमन्त्र में वर्णन हुआ था। जीवन में होनेवाले अगले परिणामों को प्रस्तुत मन्त्र में दिखलाते हैं १. ये प्राणापान **अश्विना**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं, परिणामतः प्राणसाधक कर्मशील होता है। पिछले मन्त्र में कर्मों के प्रशस्त होने और अविच्छिन्न रूप से चलने का उल्लेख था। यहाँ कहते हैं कि हे प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिए **वाचम्**=वाणी को **अप्नस्वतीम्** =व्यापक कर्मोंवाला **कृतम्**=कर दीजिए। प्राणसाधक वाग्वीर न होकर कर्मवीर होता है। इसके कर्म भी व्यापक, स्वार्थ की भावना से भरे हुए नहीं होते। २. ये प्राणापान **दस्रा**=(दसु उपक्षये) सब रोगकृमियों व मलों का संहार करनेवाले हैं और **वृषणा**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। इनसे प्रस्कण्व प्रार्थना करता है कि बुराइयों का संहार कर हमें शक्तिशाली बनानेवाले हे प्राणापानो! **नः**=हमारे लिए **मनीषाम्**=(मनसः ईष्टे) मन का शासन करनेवाली बुद्धि को **कृतम्**=कीजिए। सामान्य शब्दों में कहें तो यह कहेंगे कि ये प्राणापान हमें वह बुद्धि प्राप्त कराते हैं जो मन का शासन करनेवाली होती है, अर्थात् हमारी सब इच्छाएँ विवेकपूर्वक होने से औचित्यवाली होती हैं। इसी से हम धनादि के अर्जन में कभी भी अनुचित साधनों का प्रयोग नहीं करते। २. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपको मैं **अद्यूत्ये**=द्यूत से उत्पन्न न होनेवाले **अवसे**=धन के लिए **निह्वये**=पुकारता हूँ। प्राणसाधक कभी सट्टे आदि के द्वारा धन कमाने की कामना नहीं करता, वह श्रमार्जित धन को ही धन समझता है। ४. **च**=और **वाजसातौ**=शक्ति की प्राप्ति में अथवा संग्रामों में **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **भवतम्** =होओ। इन प्राणापान से शक्ति तो बढ़ती ही है, वासनाओं के साथ संग्राम में हम विजयी भी होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक १. वाग्वीर न होकर कर्मवीर होता है, २. इसका मन बुद्धि के अनुशासन में चलता है, ३. यह श्रम से ही धनार्जन करता है, ४. वासना-संग्राम में सदा विजयी होता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

छह देवों द्वारा आदरण

द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवीऽउत द्यौः॥३०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **द्युभिः**=दिनों में **अक्तुभिः**=रात्रियों में, अर्थात् दिन-रात **अस्मान्**=हमारी **परिपातम्**=रक्षा कीजिए। दिन में हम आलस्यशून्य होकर विवेकपूर्वक शुभ भावनाओं से युक्त होकर कार्यों में लगे रहें, रात्रि में गाढ़ी नींद में जाकर अशुभ स्वप्नों की आशंका से बचे रहते हैं। २. हे प्राणापानो! आप **अरिष्टेभिः**=न हिंसित होनेवाले **सौभगेभिः**= सौभगों के द्वारा हमारी रक्षा कीजिए। 'भग' शब्द में 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति (वैराग्य)' की भावना है। इन सब सुन्दर भगों को प्राप्त करानेवाले ये प्राणापान हैं। इनसे हम सब प्रकार से सुरक्षित होकर हिंसित होने से बचे रहते हैं। ३. कुत्स कहता

है कि इस प्रकार प्राणसाधना से अपनी रक्षा व सौभग प्राप्ति के **तत्**=उस **नः**=हमारे संकल्प को **मित्रः वरुण अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः**=मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौ—ये सब देवता **मामहन्ताम्**=आदृत करें। जैसे बैंक चेक को आदृत (Honours) करता है, अर्थात् उसे कैश कर देता है, उसी प्रकार ये देव हमारे इस सङ्कल्प को आदृत करें, पूर्ण करें। जिस समय ये देवता मेरे इस संकल्प को आदृत करेंगे तब मैं इन देवों को अपने में प्रतिष्ठित हुआ-हुआ पाऊँगा। उस दिन (क) **मित्रः**=मैं सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनूँगा। (ख) **वरुणः**=मैं द्वेष का निवारण करनेवाला बनूँगा। (ग) **अदितिः**=(दो अवखण्डने) सब प्रकार के खण्डनों से रहित पूर्ण स्वस्थ होऊँगा। (घ) **सिन्धुः**=(स्यन्दन्ते, अर्थात् बहनेवाले जल=शरीर में रेतस्) मेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का सञ्चार होगा। (ङ) **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) मेरा हृदय विस्तार को लिये हुए होगा और (च) **द्यौः**=(दिव=प्रकाश) मस्तिष्क ज्योतिर्मय होगा।

भावार्थ—प्राणसाधना से हममें मित्रादि देवों का निवास होता है। हम 'स्नेहमय, निर्द्वेष, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न, विशाल हृदय व दीप्तमस्तिष्क' बनते है। एवं, ये छह देव हमारा आदर करते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सूर्य का पालकत्व Looking after by the sun

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥३१॥

सविता देवः=सबका प्रेरक दिव्य गुणोंवाला सूर्य **आ**=चारों ओर **कृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट **रजसा**=लोकसमूह के साथ **वर्त्तमानः**=विद्यमान होता हुआ **अमृतम्**=अमर आत्मतत्त्व को **मर्त्यं च**=और इस मरणधर्मा शरीर को **निवेशयन्**=विशेषरूप से स्वस्थ करता हुआ **हिरण्ययेन रथेन**=ज्योतिर्मय, सुनहरे रथ से **भुवनानि पश्यन्**=सब लोकों को देखता हुआ **याति**=चल रहा है। सूर्य के आकर्षण से कितने ही पिण्ड सूर्य के चारों ओर अपने मार्ग पर आक्रमण कर रहे हैं। इन सब पिण्डों के साथ गति करता हुआ यह सूर्य एक सौरलोक कहलाता है। यह सारा सौरलोक प्रति सैकिण्ड बारह मील की गति से अन्तरिक्ष में आगे-और-आगे चल रहा है (याति)। सूर्य का रथ हिरण्यय है। चमकने से यह हिरण्यय कहलाता है और इसकी किरणों में हिरण्य है ही। पिछले मन्त्रों में इसे 'हिरण्यपाणि' व 'हिरण्यहस्त' कहा था। यह अपने इस हिरण्य से सब लोकों का पालन करता है (पश्यन्=Looking after)। शरीर व मन के स्वास्थ्य का यह कारण बनता है। यह सूर्य, मर्त्य व अमृत, क्षर व अक्षर, शरीर व मन दोनों को ही स्वस्थ करता है (निवेशयन्)। दोनों को अपने स्थान में (स्व) स्थित (स्थ) करता है। सूर्याभिभुख बैठने से शरीर ही नहीं अपितु मन भी स्वस्थ बनता है। एवं, यह सूर्य अपने तेज से हमारे रोगों व मलों को नष्ट करता हुआ हमारा रक्षण करता है, इसी से अगले मन्त्र में यह 'पिता' कहा गया है।

भावार्थ—हिरण्ययरथवाले सूर्य का सेवन करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' ऋषि हिरण्य का धारण करके 'शरीर व मन' दोनों के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**रात्रिः**। छन्दः—**पथ्याबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

रात्रि का दीप्त-तम (अन्धकार)

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्त्तते तमः॥३२॥

सूर्य के प्रकाश के बाद रात्रि आती है, रात्रि की समाप्ति पर उषाकाल आता है। ठीक इसी प्रकार सूर्यदेव के ३१वें मन्त्र के पश्चात् यहाँ रात्रि देवता का ३२वाँ मन्त्र है और इसके पश्चात् उषा का ३३वाँ मन्त्र आएगा और ३४ से ४० तक प्रातःकाल की प्रार्थना के मन्त्र चलेंगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आरात्रि**=रात्रि तक, रात्रि के आने तक **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिवलोक **पितुः**=उस पालक सूर्य के **धमाभिः**=तेजों से **अप्रायि**=परिपूर्ण किया जाता है। (एषा वै पिता य एष सूर्यस्तपति। –शत० १४।१।४।१५)। दिनभर सूर्य अपनी हिरण्यय किरणों से तेजस्विता का प्रसारण करता है। सूर्य प्रजाओं का प्राण है। सारा पार्थिवलोक–क्या वनस्पतियाँ और क्या प्राणी सभी सूर्यकिरणों के सम्पर्क में जीवित हो उठते हैं। धीरे-धीरे पृथिवी अपने अक्ष पर घूमती हुई सूर्य की ओर पीठ-सी कर लेती है और उस समय हमारे **दिवः**=आकाश के **सदांसि**=स्थानों में **बृहती**=बढ़ती हुई यह **रात्रि**=रात **वितिष्ठसे**=विशेषरूप से स्थित होती है। रात्रि का राज्य चारों ओर फैल जाता है और उस समय **त्वेषम् तमः**=यह चमकता हुआ रात्रि का अन्धकार **आवर्तते**=सर्वत्र वर्त्तमान होता है। हम रात्रि के अन्धकार से घिर-से जाते हैं। हमारा क्षितिज अत्यन्त संक्षिप्त हो जाता है। इन्द्रियों का बाह्य प्रसार रुक जाता है। इतना ही नहीं इन्द्रियाँ बन्द-सी होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं। उस सयम कभी-कभी स्वप्न में प्रभु-दर्शन हो जाता है, इसीलिए योगदर्शन में **'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा'**=स्वप्न में दृष्ट प्रभुज्ञान को न भूलने का प्रयत्न करने के लिए कहा है। सुषुप्ति में तो 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' इस सांख्यसूत्र के अनुसार हम कुछ ब्रह्मरूप में हो जाते हैं। एवं, यह रात्रि का अन्धकार भी हमारे लिए **त्वेषम्**=दीप्तिवाला हो जाता है। दिन के 'प्रकाश' में हमने सांसारिक वस्तुएँ देखी, तो रात्रि के उस अन्धकार में हमें प्रभु-दर्शन हुआ, अतः यह अन्धकार **'त्वेषम्'**=दीप्तिवाला तो हुआ ही। उस ब्रह्मरूपता को प्राप्त करनेवाला यह ऋषि 'कुत्स' है, जिसने सब बुराइयों को समाप्त कर दिया है (कुथ हिंसायाम्)।

भावार्थ–दिनभर सूर्य के प्रकाश से तेजस्विता को धारण करके खूब क्रियाशील रहकर हम रात में सुषुप्ति का अनुभव करें और ब्रह्म के प्रकाश को देख पाएँ।

ऋषिः–**गोतमः**। देवता–**उषः**। छन्दः–**निचृत्परोष्णिक्**। स्वरः–**ऋषभः**॥

उषा का वर्णन

उष॒स्तच्चि॒त्रमा भ॑रा॒स्मभ्यं॑ वाजिनीवति। येन॑ तो॒कं च॒ तन॑यं च॒ धाम॑हे॥३३॥

हे **वाजिनीवति**=अन्नादि ऐश्वर्ययुक्त **उषः**=प्रातःकाल की सौन्दर्यमयी वेला **चित्रम्**=तू आश्चर्यरूप धारण करनेवाली है। प्रातःवेला में पक्षी चहचाहने लगते हैं, शीतल, सुगन्ध समीर बहने लगता है, सर्वत्र सौन्दर्य छा जाता है **तत्**=उस रूप को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आभर**=अच्छी प्रकार पुष्ट कर **येन**=जिससे हम लोग **तोकम्**=सुयोग्य पुत्रों को **च**=और **तनयम्**=पौत्रों को **च**=भी **धीमहि**=धारण करें, प्राप्त करें।

भावार्थ–प्रभात-समय में हम पुत्र और पौत्रों के साथ आनन्द प्राप्त करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः**। देवता–**अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः–**निचृज्जगती**। स्वरः–**निषादः**।

अग्नि आदि देवों का आह्वान

प्रा॒तर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रꣳ हु॑वेम॥३४॥

प्रातः=प्रभातवेला में **अग्निम्**=प्रकाश और गर्मी देकर आगे ले-जानेवाले सच्चे अग्नि=अग्रेणी-नेता, भगवान् को, जीवन में आगे बढ़ने की भावना को **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यशाली और विघ्नों को विदीर्ण करनेवाले इन्द्ररूप परमात्मा को-जीवन में ऐश्वर्यशाली, धन-धान्य से समृद्ध होने की भावना को **हवामहे**=पुकारते हैं, बुलाते हैं, स्मरण करते हैं, अपने जीवन में धारण करते हैं। **प्रातः**=प्रभातवेला में **मित्रावरुणा**=सबसे स्नेह करनेवाले मित्ररूप, सबसे वरणीय, किसी से द्वेष न करनेवाले, न्यायकारी, दण्डदाता, वरुणरूप प्रभु को, सबसे स्नेह करने, किसी से द्वेष न करने की भावना को **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **अश्विना**=प्राण और अपानरूप, दाता और प्रतिग्रहीता, सब तक पदार्थों को पहुँचानेवाले तथा सबसे पदार्थों को लेनेवाले अश्विनीरूप परमेश्वर को **हवामहे**=अपनी सहायता के लिए पुकारते हैं। **प्रातः**=इस उषाकाल में **भगम्**=सौभाग्य प्रदान करनेवाले, धन-सम्पत्ति के भण्डार, भजनीय, सेवनीय भगरूप भगवान् को **पूषणम्**=सबकी पुष्टि करनेवाले पूषारूप भगवान् से उतने धन के लिए प्रार्थना है जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो, परन्तु पारिवारिक जीवन केवल खान-पान के पर्याप्त होने से ही सुन्दर नहीं बन जाता, अतः कहते हैं ६. कि **ब्रह्मणस्पतिम्**=हम प्रातः बृहस्पति=ज्ञान की देवता का आह्वान करते हैं। स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। स्वाध्यायशील पति-पत्नी छोटी-छोटी बातों में उलझ नहीं जाते। उनका मापक ऊँचा बना रहता है। वे संसार को ठीक रूप में देख पाते हैं, अतः उनकी क्रियाएँ भी ठीक होती हैं। ७. अपने सामाजिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए **प्रातः सोमम्**=इस प्रातःकाल में हम सोम को पुकारते हैं। सौम्य=नम्र बनने का निश्चय करते हैं। अभिमान सबसे महान् सामाजिक दोष है। इससे हम सबकी घृणा के पात्र बन जाते हैं। नम्रता सद्गुणों से युक्त करती है, वह सबका प्रिय भी बनाती है, परन्तु एक सौम्य-ही-सौम्य राजा प्रजा का ठीक शासन नहीं कर पाता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ८. **उत रुद्रम् हुवेम**=सौम्यता के साथ रुद्रता को भी हम पुकारते हैं। यह रुद्रता नियन्त्रण के लिए आवश्यक होती है। इसी प्रकार हम संसार में सौम्य हों, परन्तु उसमें उचित मात्रा में रुद्रता का सम्पर्क हो। ऐसा होने पर ही हम समाज में, जिस किसी भी स्थिति में होंगे, सफल ही होंगे।

भावार्थ-हम प्रातः उन्नति, जितेन्द्रियता, स्नेह, निर्द्वेषता, प्राणसाधन, पोषण के लिए पर्याप्त धन, ज्ञान (स्वाध्याय), सौम्यता व उचित रुद्रता (गम्भीरता) को अपने में धारण करने का संकल्प करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः**। देवता-**भगः**। छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**॥

कैसा धन?

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥३५॥

संसार-यात्रा धन के बिना चलनी सम्भव नहीं, परन्तु अन्याय से कमाया धन मनुष्य के पतन का कारण हो जाता है। वसिष्ठ प्रभु से कहता है कि १. हम **प्रातः**=उत्तम भावनाओं को अपने में भरने के समय (प्रा पूरणे) **जितम् भगम्**=उस सेवनीय धन को, जिसे हमने अपने पुरुषार्थ से जीता है, **हुवेम**=पुकारते हैं, बिना पुरुषार्थ के पाया धन मनुष्य के पतन का कारण बनता है। २. हम उस धन को पुकारते हैं जो **उग्रम्**=उदात्त है (High, noble), जिसे प्राप्त करके हम घमण्डी व कमीने नहीं बन जाते। **उग्रम्**=(Industrious)=जो

धन हमें श्रमशील बनाये रखता है। ३. **वयम् पुत्रम् (भगम् हुवेम)**=हम उस धन को पुकारते हैं जो (पुनाति+त्रायते) हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है और वासना से सुरक्षित करता है। ४. फिर हमें वह धन चाहिए **यः**=जो **अदितेः**=अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य का **विधर्त्ता**=विशेषरूप से धारण करनेवाला है। अस्वस्थ बना देनेवाला धन हमें नहीं चाहिए। 'अदिति' का अर्थ निरुक्त में 'अदीना देवमाता' दिया है। हमें वह धन चाहिए जो हमें अदीन बनाए, जिसके कारण हमें किसी के सामने गिड़गिड़ाना न पड़े और हमारे हृदयों में दिव्य गुणों का विकास हो। ५. हमें वह धन चाहिए **यम् भगम्**=जिस धन को (क) **आध्रः**=आधार देने योग्य, अर्थात् लूला-लँगड़ा **चित्**=भी **भक्षि इतिआह**='मैं खाता हूँ' ऐसा कहता है, अर्थात् जिस धन में इन सहारा देने योग्य अपाहिज लोगों को भी हिस्सा मिलता है। (ख) **मन्यमानः तुरः चित्**=आदरणीय, समाज की अज्ञानादि बुराइयों की हिंसा करनेवाला भी 'मैं खाता हूँ' इस प्रकार कहता है, अर्थात् हमारे धनों में समाजहित के कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों को भी भाग मिलना चाहिए। जो व्यक्ति **मन्यमानः**=आदरणीय माने हुए हैं। यह 'मन्यमानः' विशेषण यहाँ इसलिए है कि कहीं धन 'अपात्र' में न पहुँच जाए। जिन व्यक्तियों को हम धन दें वे समाज के आदर के पात्र हों, जिससे कि उस धन के सद्व्यय का हमें निश्चय रहे। (ग) **राजा चित् यं भगं भक्षि इतिआह**=और अन्त में हमें वह धन चाहिए जिस धन को राजा भी 'मैं खाता हूँ', ऐसा कहता है, अर्थात् जिस धन में से राजा को उचित कर दिया जाता है। राजा नें इस कर-प्राप्त धन से ही राष्ट्र की रक्षा व व्यवस्था करनी है। यदि हम कर नहीं देते तो राष्ट्र की चोरी ही करते हैं, अतः हमारे धन में अनाथों, समाज-सेवकों व राजा का भाग होना ही चाहिए।

भावार्थ—धन पुरुषार्थ से कमाया जाए, वह हमें उदात्त बनानेवाला हो, हमारी पवित्रता व वासनाओं से रक्षा का कारण हो, हमें स्वस्थ व अदीन तथा दिव्य गुणोंवाला बनाये। हमारे धन में दीनों, मान्य समाज-सेवियों तथा राजा को अवश्य अपना-अपना भाग मिले।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगवान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जीवन-यात्रा में धन का महत्त्व

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र नो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥३६॥

१. हे **भग**=ऐश्वर्य **प्रणेतः**=तू प्रकृष्ट नेता है, जीवन-यात्रा को उत्तमता से ले-चलनेवाला है। यह धन २. **सत्यराधः**=सत्य को सिद्ध करनेवाला है। यहाँ 'सत्य' सब उत्तम कर्मों का प्रतीक है, प्रत्येक उत्तम कार्य धन से ही सिद्ध होता है। यज्ञों के लिए, स्वध्याय के लिए, अन्य सभी उत्तम कार्यों के लिए धन की आवश्यकता है। ३. हे नेतृत्व देनेवाले, सत्य को सिद्ध करनेवाले **भग**=ऐश्वर्य! **नः**=हमारी **इमाम् धियम्**=इस बुद्धि की **ददत्**=हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण करते हुए **उदव**=रक्षा कर। जिस समय गरीबी के कारण नमक, तेल, ईंधन की चिन्ता सताती है तब यह बुद्धि को लुप्त कर देती है। ऐश्वर्य हमें इन चिन्ताओं से मुक्त करके स्वस्थ बुद्धिवाला करता है। ४. हे **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमारा **गोभिः अश्वैः**=उत्तम गौवों व घोड़ों से **प्रजनय**=प्रकृष्ट विकास कर। धन के द्वारा हमारे घर गौवों व घोड़ोंवाले हो सकते है। ५. हे **भग**=ऐश्वर्य! तेरे द्वारा हम **प्रनृभिः**=उत्तम मनुष्यों से **नृवन्तः**=मनुष्योंवाले **प्रस्याम**=प्रकर्षेण हों। सामान्यतः हम संसार में देखते हैं कि हम सम्पन्न हैं तो हमारा घर बन्धु-बान्धवों से भरपूर रहता है, निर्धनता आई और सब गये और घर

उजड़ा-सा प्रतीत होने लगता है। (ख) सम्पन्न होने की स्थिति में मैं आये-गये मान्य अतिथियों का ठीक स्वागत कर पाता हूँ और वे मेरे यहीं निवास करते हैं। मैं गरीब हूँ तो उनके आतिथ्य की मुझे सुविधा नहीं होती और मेरा घर ऐसे मनुष्यों का निवासस्थान नहीं बनता।

भावार्थ—धन नेतृत्व करता है, सत्य को सिद्ध करता है, बुद्धि को स्थिर रखता है, हमारी शक्ति व ज्ञान के विकास का कारण बनता है और हमारे घर को उत्तम पुरुषोंवाला बनाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रारम्भ, मध्य व अन्त में

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्वऽउत मध्येऽअह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानाꣳ सुमतौ स्याम॥३७॥

१. **इदानीम् उत**=इस समय भी **भगवन्तः स्याम**=भगवाले हों। **उत प्रपित्वे**=और अन्तकाल में भी ऐश्वर्यवाले हों। **उत अह्नाम् मध्ये**=और दिनों के मध्यभाग में भी हम ऐश्वर्यवाले हों। **उत**=और हे **मघवन्**=हे ऐश्वर्यशाली प्रभो! **वयम्**=हम **सूर्यस्य उदिता**=सूर्य के उदय होते ही **देवानाम् सुमतौ स्याम**=देवों की कल्याणी मति में हों। २. भग शब्द के छह अर्थ हैं **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीयर्स्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा'**=(क) समग्र ऐश्वर्य, वस्तुतः ऐश्वर्य प्राप्ति का साधनभूत विज्ञान, (ख) वीर्य, (ग) यश, (घ) श्री, (ङ) ज्ञान, और (च) वैराग्य—ये छह अर्थ भगशब्द के हैं। जीवन के प्रातः काल में, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में हम विज्ञान व वीर्य का सम्पादन करनेवाले हों। साथ ही इस जीवन के प्रातःकाल में व्यक्ति अपने में विज्ञान=ऐश्वर्य और शक्ति को भरें। इस शक्ति व ऐश्वर्य प्राप्ति की योग्यता से अपने को परिपूर्ण करके सद्गृहस्थ बनता है। ३. यह सद्गृहस्थ अपने जीवन के मध्याह्न में चल रहा होता है। इसने अपने जीवन में यश और श्री का सम्पादन करना है। एक गृहस्थ को सदा ऐसे ही कर्म करने चाहिएँ जो उसके यश का कारण बनें, उसके जीवन को शोभावाला करें। ४. अब यशस्वी व श्री-सम्पन्न गृहस्थ को बिताकर मनुष्य को चाहिए कि वह आगे बढ़े और अपने जीवन के सायंकाल में ज्ञान और वैराग्य की साधना करे। यह 'श्रेयोज्ञान' (ब्रह्मज्ञान=ब्रह्म का दर्शन) पातञ्जलयोग के अभ्यास से ही होगा, अतः वानप्रस्थ को प्रातः-सायं कम-से-कम एक-एक घण्टा ध्यान करना ही चाहिए, अधिक हो सके तो अच्छा ही है। शेष समय स्वाध्याय में बिताने का प्रयत्न करना है। स्वाध्याय से श्रान्त होने पर लोकहित के कार्यों में आमोद-प्रमोद को अनुभव करना है। ये कार्य उसके आमोद-प्रमोद (Amusements) बन जाएँ। इस ज्ञान को प्राप्त करने से वैराग्य व अनासक्ति (Detachment) की भावना का उदय होगा और इस प्रकार इसका जीवन पूर्ण भगवाला हो सकेगा। ५. इस भग के क्रमिक विकास को सिद्ध करने के लिए हम सूर्योदय से ही, अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से ही देवों की कल्याणी मति में हों। प्रातःकाल में 'मतृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'=माता-पिता व आचार्य हमें सुमति देनवाले हों। मध्याह्न में 'अतिथिदेवो भव'=विद्वान् व व्रतमय जीवनवाले अतिथि हमें समय-समय पर सुमति देते रहें। जीवन के पूर्णता के काल में (सायंकाल में) अन्तर्मुख-यात्रा के अभ्यास से आभासित उस महादेव की कल्याणी मति को सुननेवाले हम बनें, अर्थात् आत्मा की आवाज़ को हम सुन पाएँ। इस

प्रकार देवों की कल्याणी मति से हम जीवन में पृथक् न होंगे तो अवश्य अपने अन्दर भग की वृद्धि करते हुए भगवान् के दर्शन कर पाएँगे।

भावार्थ—हमारा जीवन भग की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए भगवान् के समीप पहुँचने में ही व्यतीत हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगवान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु ही हमारा ऐश्वर्य हो

भगऽएव भगवाँ२॥ऽअस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्वऽइज्जोहवीति स नो भग पुरऽएता भवेह ॥३८॥

१. हे **देवाः**=देवो! आप ऐसी कृपा करो कि **भगवान् एव**=प्रभु ही **भगः अस्तु**=हमारे ऐश्वर्य हों, अर्थात् हम भगवान् को ही अपना भग बनाएँ, प्रभु-प्राप्ति को ही सच्चा ऐश्वर्य समझें। **तेन**=उस प्रभु से ही **वयम्**=हम **भगवन्तः**=भगवाले **स्याम**=हों। प्रभु ही हमारा धन हों। हम 'आत्मक्रीड व आत्मरति' बन पाएँ। हम 'आत्मन्येव च संतुष्टः'=आत्मतत्त्व को पाकर ही सन्तुष्ट हों। २. हे **भग**=सब ऐश्वयों के पुञ्ज प्रभो! **तम् त्वा**=उस आपको **सर्व इत्**=सर्व ही **जोहवीति**=पुकारता है। प्रभु की सच्ची आराधना वही करता है जो 'सर्व' बनता है। सर्व बनने का अभिप्राय 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों की उन्नति करने से है। केवल स्वस्थ पुरुष, केवल बुरी भावना से रहित पुरुष, किसी का बुरा चिन्तन न करनेवाला पुरुष तथा ज्ञान से भरे मस्तिष्कवाला पुरुष भी प्रभु का सच्चा उपासक नहीं। सच्चा उपासक तो वही है जो तीनों उन्नतियों की साधना करके 'सर्व' बनने का प्रयत्न करता है। ३. हे **भग**=सेवनीय, उपासनीय प्रभो! **सः**=वे आप **इह**=इस मानव-जीवन में **नः**=हमारे **पुर एता**=आगे चलनेवाले **भव**=होओ। आप हमारे नेता हों, हम आपके अनुयायी हों। हमारे पथ-प्रदर्शक आप ही हों।

भावार्थ—हम प्रभु को ही अपना सच्चा धन मानें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दधिक्रावा बनना

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिनऽआ वहन्तु॥३९॥

१. **उषसः**=उषाःकाल **अध्वराय**=अध्वर के लिए **संनमन्त**=सन्नत हों। हम प्रातःकाल ही विनीत बनकर अध्वर मार्ग पर चलने का निश्चय करें। 'न ध्वरति कुटिलो भवति, अध्वानं सत्पथं राति इति वा'=विनीत बनकर कुटिलतारहित सन्मार्ग पर चलें। विनीतता का परिणाम कुटिलता-त्याग है। जब नम्रता नष्ट होकर मद आ जाता है तभी जीवन कुटिलता व हिंसावाला हो जाता है। दैवी सम्पत्ति की चरमसीमा विनीतता ही है 'नातिमानिता'। २. **दधिक्रावा इव**=दधिक्रावा के समान **शुचये पदाय**=पवित्र मार्ग के लिए अथवा उस पूर्ण शुद्ध प्रभु को प्राप्त करने के लिए यह उषाःकाल हो। (क) 'दधत् क्रामतीति दधिक्रावा'=शक्ति को धारण करके चलता है, हम शक्तिशाली बनकर पवित्र मार्ग पर चलें। संसार निर्बलों के लिए नहीं है। निर्बलता में मनुष्य पाप कर बैठता है। **'वि शक्रः पापकृत्यया**—अ० ३।३१।२' शक्तिशाली पाप से दूर रहता है, इसीलिए उपनिषद् कहती है कि **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**। (ख) 'दधत् क्रन्दति इति वा दधिक्रावा'=शक्तिशाली बनकर प्रभु को

पुकारता हुआ मैं पवित्र मार्ग पर चलूँ। **दधत्**=धारणात्मक कर्मों को करता हुआ मैं प्रभु की प्रार्थना करूँ। निर्बल बन प्रभु को पुकारने से कुछ लाभ नहीं। धारणात्मक कर्मों को करता हुआ ही प्रभु-प्रार्थना का अधिकारी है। ३. **इव**=जैसे **वाजिनः अश्वाः**=शक्तिशाली घोड़े **रथम्**=रथ को उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचाते हैं उसी प्रकार **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानसम्पन्न **अश्वाः**=इन्द्रियरूप घोड़े **नः**=हमें **अर्वाचीने**=(अवरे देशे अञ्चति न तु परे) अन्दर ही विद्यमान **वसुविदम्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले **भगम्**=ऐश्वर्यपुञ्ज, सेवनीय प्रभु को **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ। यहाँ इन्द्रियों का विशेषण 'वाजिनः' है, वे शक्तिशाली हों तथा ज्ञानप्राप्ति का उचित साधन हों। उस प्रभु को प्राप्त कराने के लिए इन इन्द्रियरूप घोड़ों की अन्तर्मुखयात्रा चाहिए, वे प्रभु 'अर्वाचीन' हैं, अन्दर ही मौजूद है, वे सब वसुओं के स्वामी हैं, अतः प्रभु-प्राप्ति में 'योगक्षेम' ठीक प्रकार से चलता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यह है कि (क) हम विनीतता को अपनाकर अहिंसा व अकुटिलता के मार्ग पर चलें, (ख) अपने को शक्तिशाली बनाते हुए पवित्र मार्ग का आक्रमण करें तथा धारणात्मक कर्मों में लगे हुए प्रभु की प्रार्थना करें, (ग) प्रभु को ऐश्वर्य का पुञ्ज, सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला जानते हुए अपनी इन्द्रियों को निरुद्ध कर उसी का ध्यान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**उषाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'विश्वतः प्रपीत'—सर्वांगीण उन्नति

अश्वावतीर्गोमतीर्नऽउषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥४०॥

नः=हमारे लिए **उषासः**=उषःकाल **सदम्**=सदैव (ऋ० १।१०६। पर द०, सदम्=संवत्सरम्=वर्षभर, अर्थात् सारे साल—यास्क) **उच्छन्तु**=प्रकाशित हों। कैसी उषाएँ? १. **अश्वावतीः**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली। अश्व शब्द 'अश्नुवते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति से कर्मेन्द्रियों का वाचक है। हम प्रत्येक उषःकाल में उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले हों। पिछले मन्त्र में वर्णित प्रकार से हम 'अध्वरों' में अपना समय बिताएँ। धारणात्मक कर्म करते हुए जीवन-यात्रा में चलें (दधिक्रावा)। २. **गोमतीः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से यह शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है। हम प्रत्येक उषःकाल में स्वाध्याय को अपना भोजन बनाएँ और अपने मस्तिष्क का ठीक पोषण करनेवाले बनें। ३. **वीरवतीः**=ये उषःकाल वीरोंवाली हों। हम पवित्र मार्ग पर (शुचये पदाय) चलते हुए वासनाओं से दूर रहकर शक्ति को अपने में सञ्चित करनेवाले हों। ५. **भद्राः**=(भदि कल्याणे सुखे च) ये उषःकाल हमारे लिए कल्याणकर व सुखकारी हों। हम इनमें सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने का निश्चय करें। ५. **घृतम्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मानस नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति को **दुहानाः**=(दुह प्रपूरणे) हममें वे भरनेवाले हों। प्रत्येक उषःकाल (उष दाहे) हमारे दोषों का दहन करके हमें निर्मल बनाये और हमारे ज्ञानों को दीप्त करनेवाला हो। ६. **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **प्रपीता**=ख़ूब बढ़े हुए, अर्थात् हमारी वृद्धि करनेवाले ये उषःकाल हों। इनमें हम शरीर के स्वास्थ्य, मन के नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता के लिए प्रयत्नशील हों। हमारी उन्नति सर्वांगीण हो, एकांगी उन्नति वस्तुतः उन्नति ही नहीं। 'विश्वतः प्रपीता' का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'सब स्थानों से प्रकृष्ट पानवाले', हम जहाँ से भी अच्छाई मिल सके उसका ग्रहण

करनेवाले बनें। सूर्य जिस प्रकार सब स्थानों से जल ले-लेता है, इसी प्रकार हम भी सब स्थानों से अच्छाई को लेने का निश्चय करें। हे ऐसे उषःकालो! **यूयम्**=तुम **सदा**=हमेशा **नः**=हमारा **स्वस्तिभिः**=उल्लिखित बातों के द्वारा उत्तम स्थितियों से (सु+अस्ति) **पात**=पालन करो। उत्तम स्थिति यही है कि (क) हम उत्तम कर्मों में लगे रहें (अश्वावतीः) (ख) उत्तम कर्मों के लिए आवश्यक है कि हम उत्तम विचारों व ज्ञानवाले हों (गोमतीः) (ग) इस ज्ञान की उत्तमता के लिए वीर्यरक्षा आवश्यक है। वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन है। हम वीर्यवान् हों (वीरवतीः)। (घ) ये बातें होने पर हमारा मार्ग कल्याण-ही-कल्याणवाला होगा (भद्राः)। (ङ) हमारा नैर्मल्य व ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता-ही-बढ़ता जाएगा (घृतं दुहानाः), (च) इस प्रकार हमारी सर्वांगीण उन्नति होगी (विश्वतः प्रपीताः)। हमारे उषःकाल सदा हमारी इस उत्तम स्थित को प्राप्त करानेवाले (लाने) हों।

भावार्थ—हमारा प्रत्येक उषःकाल उत्तमकर्म, उत्तमज्ञान, शक्ति, भद्रता, नैर्मल्य व वृद्धिवाला हो।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पूजा के मार्ग पर

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्त इह स्मसि॥४१॥

'सुहोत्र' ऋषि का यह मन्त्र है। (हु=आदान) यह **सु**=उत्तम वस्तुओं का **होत्र**=आदान करता हुआ अपना त्राण करता है। यह कहता है कि हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले सूर्यदेव! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में चलते हुए **कदाचन**=कभी भी न **रिष्येम**=हिंसित न हों। इसी उद्देश्य से **इह**=इस मानव-जीवन में हम **ते**=तेरे **स्तोतारः**=स्तुति करनेवाले **स्मसि**=होते हैं। स्तुति का अभिप्राय यही है कि हम तेरे गुणों का स्मरण करते हुए अपने जीवन के लिए भी एक लक्ष्यदृष्टि स्थिर करते हैं। १. जैसे सूर्य 'पूषा' है, सबका पोषण करनेवाला है, इस प्रकार हम भी 'पोषण' का व्रत लेते हैं। हम धारणात्मक कर्म ही करेंगे, ध्वंसात्मक नहीं। वस्तुतः यही तो 'दधिक्रावा' (संख्या ३९) बनना है। २. यह पूषा 'आदित्य' है सभी स्थानों से जल का आदान करता है, परन्तु इस ग्रहण में यह जल को ही लेता है, उस स्थान की दुर्गन्ध व मलिनता को नहीं लेता। हमारा भी यह व्रत हो कि हम औरों की अच्छाई को ही देखें और उसी को लें। ३. सूर्य (सरति) निरन्तर चल रहा है। यह आराम के लिए कभी कहीं रुक नहीं जाता। ४. सूर्य की चौथी बात यह है कि यह लोगों की स्तुति-निन्दा से अपने तापन व प्रकाशनरूप कार्य से कभी विचलित नहीं होता। हमें भी अपना आदर्श यही रखना है कि **'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव मरणामस्तु युगान्तरे वा, न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'** स्तुति, निन्दा, ऐश्वर्य व निर्धनता तथा जीवन व मरण हमें अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न कर सकेंगे। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुहोत्र' इन 'पोषण, उत्तमता का आदान, सतत क्रियाशीलता व कर्तव्यपथ से अविचलता' रूप उत्तम बातों का आदान करता हुआ सूर्य के व्रत में चलता है, सूर्य का सच्चा स्तोता बनता है और इस प्रकार अपने जीवन में हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—हम सूर्य से शिक्षा ग्रहण करके अपने जीवन में (क) धारणात्मक कर्म ही करें, (ख) सब जगह से अच्छाई को लेनेवाले हों, (ग) क्रियाशील रहें, (घ) स्तुति-निन्दा हमें कर्त्तव्यपथ से विचलित न कर सकें।

ऋषिः—**ऋजिश्वः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मार्गों का भी मार्ग

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतोऽअभ्यानड्र्कम्।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियꣳ सीषधाति प्र पूषा॥४२॥

पिछले मन्त्र के अनुसार सूर्य का उपासक, उसके गुणों का स्तोता बनकर सरल मार्ग से (ऋजु) निरन्तर आगे बढ़नेवाला (श्वि गति) 'ऋजिश्वा' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह इस मार्ग पर चलने के लाभ को कुछ अनुभव कर चुका है, अतः यह उस मार्ग पर **कामेन**=इच्छा से चलता है। यह सूर्य के प्रकाश की भाँति अपने को प्रकाशमय बनाने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करता है और **वचस्या**=इस वेदवाणी से **कृतः**=संस्कृत (accomplished) हुआ-हुआ **अर्कम्**=उस सूर्य को **अभ्यानट्**=शिष्यरूपेण प्राप्त होता है जो सूर्य **पथस्पथः**=मार्गों के भी मार्ग का, अर्थात् सर्वोत्तम मार्ग का **परिपतिम्**=पूर्णरूप से रक्षक है, अर्थात् सदा एक आदर्श मार्ग पर चलनेवाला है। सूर्य के इस मार्ग का कुछ वर्णन ४१वें मन्त्र में हुआ है। इस मार्ग पर चलनेवाला 'ऋजिश्वा' प्रार्थना करता है कि **सः**=वह पूषा (सूर्य) **नः**=हमें **चन्द्राग्राः**=(चदि आह्लादे)=आह्लाद व प्रसन्नता को बढ़ानेवाली **शुरुधः**=(शुग् रुधः) शोक व दुःख को दूर करनेवाली सम्पत्तियों को **रासत्**=दे। वस्तुतः सूर्य के मार्ग पर **कामेन**=बड़ी इच्छा से उत्साहपूर्वक चलने से हमें शारीरिक स्वास्थ्य की, मानस नैर्मल्य की और बौद्धिक दीप्ति की सम्पत्ति प्राप्त होती है। ये सम्पत्तियाँ क्रमशः आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक शोकों को दूर करनेवाली हैं। नीरोगता से आध्यात्मिक कष्टों की इतिश्री हो जाती है, राग-द्वेष के क्षय से आधिभौतिक कष्ट नहीं होते और ज्ञानदीप्ति हमें आधिदैविक कष्टों से बचाती है। इस प्रकार प्रार्थना करता हुआ 'ऋजिश्वा' कहता है कि प्रभु ऐसी कृपा करे कि यह **पूषा**=सूर्य **धियम् धियम्**=हमारे प्रत्येक प्रज्ञान व कर्म को अथवा प्रज्ञापूर्वक किये जानेवाले कर्म को **प्रसीषधाति**=प्रकर्षेण सिद्ध करे। वस्तुतः मार्गों का मार्ग, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट मार्ग तो वही है जिस मार्ग से कि **पूषा**=सूर्य चल रहा है। 'पोषणात्मक कर्मों को करना, अच्छाई को लेना, क्रियामय जीवन बिताना और स्तुति-निन्दा से विचलित न होना' ही सर्वोत्तम जीवन-यात्रा का मार्ग है। इस मार्ग से चलनेवाले पुरुष के सभी कर्म प्रज्ञापूर्वक होते हैं और इन कर्मों को करता हुआ वह अपने लक्ष्य-स्थान पर अवश्य पहुँच जाता है। उसकी जीवन-यात्रा पूर्ण होती है और वह सबके पोषण करनेवाले प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अध्ययन से अपने जीवन को संस्कृत बनाएँ। बड़ी इच्छा व उत्साह के साथ मार्गों के भी मार्ग के पति सूर्य के उपासक बनें, उसी के व्रत में चलें। आनन्दप्रद, दुःखद्राविणी सम्पत्तियों को प्राप्त करने का व कर्मसाफल्य का यही मार्ग है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विष्णुः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

तीन कदम

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपाऽअदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥४३॥

पिछले मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा'=सरल मार्ग से चलता हुआ पूषा के उपदिष्ट मार्ग पर चलता है। इस मार्ग पर चलते हुए यह **त्रीणि पदा**=तीन कदमों को **विचक्रमे**=विशेषरूप से रखता है। १. यह **विष्णुः**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक, उदार अन्तःकरणवाला बनता है।

अपनी बुद्धि को विशाल बनता है। २. यह **गोपाः**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों का रक्षक होता है। इन्द्रियों को विषयों में भटकने से बचाता है। इसी से इसकी इन्द्रियाँ विषयासक्त होने से बची रहती हैं, दूसरे शब्दों में इसके इन्द्रियाश्व मार्गभ्रष्ट नहीं होते और यह अपनी जीवन-यात्रा में आगे-और-आगे बढ़ता चलता है। ३. **अदाभ्यः**=(दभ्=हिंसायाम्) यह अपने शरीर में रोगों से हिंसित नहीं होता। रोगकृमियों से यह दब नहीं जाता। सदा स्वस्थ शरीरवाला बना रहता है। ४. चूँकि यह 'विष्णु, गोपा व अदाभ्य' के रूप में 'व्यापक मानस उन्नति, इन्द्रियों की सुरक्षा व शरीर के स्वास्थ्य' रूप तीन कदमों को रखता है, अतः **धर्माणि**=देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप मुख्य धर्मों का **धारयन्**=धारण करनेवाला बनता है। ३१वें अध्याय के १६वें मन्त्र में 'तानि धर्माणि प्रथमान्यसान्' इन शब्दों में यज्ञान्तर्गत इन तीन बातों को प्राथमिकता देनी है। देवपूजा से ज्ञान बढ़ता है, संगतिकरण हमें राग-द्वेष से ऊपर उठाता है, दान हमें विषय-वासनाओं से बचाकर स्वस्थ बनता है। ये ही तीन कदम हैं, जिन्हें कि प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' अपने जीवन में रखने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में तीन कदम रखनेवाले त्रिविक्रम बनें। 'विष्णु बनें, गोपा बनें और अदाभ्य हों'।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विष्णुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

विप्र, विपन्यु व जागृवान्

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाꣳसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्॥४४॥

व्यापक उन्नति करनेवाला जीव भी विष्णु है, परन्तु सदा से पूर्णोन्नत प्रभु ही वस्तुतः विष्णु हैं, उस विष्णु की उपासना जीव विष्णु बनकर ही करता है 'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'। उस महान् **विष्णोः** =विष्णु का **यत्**=जो **परमम् पदम्**=उत्कृष्ट स्थान है **तत्**=उसे **समिन्धते**=अपने अन्दर दीप्त करते हैं। कौन? १. **विप्रासः**=(वि+प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले। आत्मालोचन के द्वारा जहाँ भी कमी दिखी, उसे उन्होंने दूर करने का प्रयास किया। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को ये इसी प्रकार स्वस्थ रख पाते हैं। २. **विपन्यवः**=(पण् स्तुतौ) विशिष्ट स्तुतिवाले। ये अपने मन को सदा प्रभु के स्तवन में लगाते हैं, इसी कारण मन में मलिनता उत्पन्न नहीं होती। प्रभु-प्रवण मन सदा पवित्र बना रहता है। प्रभु-स्तुति में न लगा हुआ मन विषयों में चला जाता है और शत्रु बन जाता है। ३. **जागृवांसः**=जो सदा जागते हैं। जिनका बुद्धिरूप सारथि सदा सचेत है। मन को विषय जाल में फँसने से बचाने के लिए ये **विपन्यवः**=विशिष्टरूप से प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं, इस शरीर-रथ की सारथिभूत बुद्धि को सदा जागरित रखते हैं। बुद्धिपूर्वक चलनेवाले ये सचमुच 'मेधातिथि' (मेधया अतति) होते हैं। इस मेधातिथि के ये ही तीन विक्रम हैं 'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' बनना।

भावार्थ—'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' बनकर हम विष्णु के परमपद को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**द्यावापृथिव्यौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

द्यावापृथिवी—शरीर व मस्तिष्क

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥४५॥

आधिदैविक जगत् में 'द्यावापृथिवी' का अभिप्राय द्युलोक व पृथिवीलोक है। यही अध्यात्म में मस्तिष्क व शरीर हैं। वस्तुतः यह पिण्ड (शरीर) क्या है? यह एक छोटा ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्ड क्या है? यह एक बड़ा पिण्ड है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह उक्ति नितान्त सत्य है। 'हमारे इस पिण्ड में गत मन्त्र के 'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' के शरीर व मस्तिष्क कैसे बनते हैं', इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार है १. **घृतवती**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) ये **द्यावापृथिवी**=शरीर व मस्तिष्क घृतवाले—क्षरण व दीप्तिवाले होते हैं। शरीर में से मलों का क्षरण होकर शरीर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इस स्वस्थ शरीर में मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है (Sound mind in a sound body)। २. **भुवनानाम् अभिश्रिया**=इस प्रकार स्वस्थ शरीर और दीप्त मस्तिष्क मनुष्य के बाहर व अन्दर दोनों ('अभि') को श्रीसम्पन्न बनाते हैं। शरीर का स्वास्थ्य बाह्य श्री का कारण बनता है तो मस्तिष्क की उज्ज्वलता अन्तःश्री का कारण होती है। ३. **उर्वी**=(ऊर्णु आच्छादने) ये श्रीसम्पन्न शरीर व मस्तिष्क मनुष्य का आच्छादन करनेवाले होते हैं। जैसे छत मनुष्य को सर्दी, गर्मी, वर्षा व ओलों से बचाती है, उसी प्रकार ये मस्तिष्क व शरीर भी मनुष्य को रोगों व मलिनविचारों से बचाते हैं, उसकी रक्षा करते हैं। ४. **पृथ्वी**=(प्रथ विस्तारे) ये द्यावापृथिवी उसकी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले होते हैं। ५. **मधुदुघे**=ये उसमें 'मधु' का, सारभूत वस्तु का पूरण करनेवाले होते हैं (दुह प्रपूरणे)। वस्तुतः सोम=वीर्य ही सर्वोत्तम सारभूत वस्तु है। इस सोम का विनाश न कर ये जागृवान् लोग इसका अपने में पूरण करते हैं। इसी से तो वस्तुतः वे शरीर में शक्ति को (वाज=शक्ति) तथा मस्तिष्क में ज्ञान (वाज=गति=ज्ञान) को भरनेवाले 'भरद्वाज' बनते हैं। भरद्वाज ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। ये ६. **सुपेशसा**=उत्तम निर्माण करनेवाले (पेश=shape, पेशः=रूपम्) होते हैं। शक्तिसम्पन्न शरीर व ज्ञानोज्ज्वल मस्तिष्क मनुष्य को बड़ा सुन्दर रूपवाला बनाते हैं। ७. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **वरुणस्य धर्मणा**=वरुण की धारकशक्ति से **विष्कभिते**=थामे जाते हैं। वस्तुतः द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण प्रभु ही कर रहे हैं। यहाँ अध्यात्म में भी शरीर व मस्तिष्क वरुण की धारकशक्ति से धारित होते हैं। यहाँ 'वरुण' का अभिप्राय है, 'द्वेष का निवारण करनेवाला'। जो व्यक्ति अपने मन में ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि को नहीं जलने देता वही स्वस्थ शरीर व मस्तिष्कवाला होता है। ईर्ष्या-द्वेष से शरीर का स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं होता, मन का स्वास्थ्य भी नष्ट हो जाता है। **'ईर्ष्योर्मृतं मनः'**=ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत हो जाता है, परन्तु जब हम **वरुण**=द्वेष का निवारण करनेवाले बनते हैं तब हमारे शरीर व मस्तिष्क ८. **अजरे**=न जीर्ण होनेवाले होते हैं। ९. **भूरिरेतसा**=ये बहुत रेतस्वाले होते हैं। 'भूरि' का अर्थ, भरण-पोषण करनेवाला भी है। ये उस रेतस् शक्तिवाले होते हैं जो इनका भरण करती है, इनमें किसी प्रकार की कमी नहीं आने देती।

भावार्थ—भरद्वाज वरुण='द्वेष को दूर करनेवाला' बनकर अपने मस्तिष्क व शरीर को अजर=न जीर्ण होनेवाला, सदा सबल बनाता है।

ऋषिः—**विहव्यः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विहव्य की विशिष्ट प्रार्थना

ये नः सपत्नाऽअप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्राऽआदित्याऽउपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥४६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विहव्य' है—विशिष्ट प्रार्थनावाला। इसकी प्रार्थना इस प्रकार है—१. **ये**=जो **नः** =हमारे **सपत्नाः**='शत्रु' हैं **ते**=वे **अपभवन्तु**=दूर हों। शरीर का पति वस्तुतः मैं हूँ, यह मुझे जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए दिया गया है, परन्तु रोगकृमि इसमें घर कर लेते हैं और वे इसका पति बनना चाहते हैं, अतः वे मेरे 'सपत्न' कहलाते हैं। इसी प्रकार ईर्ष्या-द्वेष के अशुभ विचार मेरे मस्तिष्क के पति बनने का प्रयत्न करते हैं, अतः वे भी मेरे 'सपत्न' हैं। इन सबको दूर करने के लिए यह 'विहव्य' प्रार्थना करता है। इसका प्रयत्न यही होता है कि यह नीरोग व निर्द्वेष बना रहे। २. **तान्**=उन रोगों व ईर्ष्या-द्वेष के विचारों को **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन्द्र व अग्नि से **अवबाधमहे**=दूर ही रोक देते हैं, उन्हें अपने पास नहीं फटकने देते। द्युलोक की देवता 'इन्द्र' है और पृथिवीलोक की प्रमुख देवता 'अग्नि' है। जैसे द्युलोक में इन्द्र=सूर्य चमकता है उसी प्रकार हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमके और शरीर में अग्नि हो, शक्ति की उष्णता हो। जब यह शक्ति की उष्णता नहीं रह जाती तब मनुष्य ठण्डा पड़ जाता है, अर्थात् मृत हो जाता है। शरीर की शक्ति और मस्तिष्क का ज्ञान दोनों मिलकर हमसे रोगों व मलिन विचारों को दूर रखते हैं। ३. **वसवः रुद्राः आदित्याः**=वसु, रुद्र व आदित्य, अर्थात् सब देवता **मा**=मुझे **उपरिस्पृशम्**=उपरले-और-उपरले लोक का स्पर्श करनेवाला, अर्थात् उत्कर्ष की ओर चलनेवाला **उग्रम्** =उदात्त, कमीनेपन व छोटे दिल से ऊपर उठा हुआ **चेत्तारम्**= संज्ञानवाला (चिती संज्ञाने) तथा **अधिराजम्** =सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता **अक्रन्**=बनाते हैं।

भावार्थ—विहव्य की प्रार्थना तीन भागों में बँटी हुई है। १. हमारे सपत्न दूर हों, २. ज्ञान व शक्ति से हम सब सपत्नों को दूर रखने में समर्थ हों, ३. देवों की कृपा से हम उत्कर्ष की ओर चलनेवाले, उदात्त, आत्मस्मृतिमान्=चेतन, व अधिराट्=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बन पाएँ।

नोट—'वसवः' वे देवता हैं जो हमारे निवास में साक्षात् कारणभूत हैं। 'रुद्राः' वे देव हैं जो हमारे जीवनों को नीरोग व शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। 'आदित्याः' उन देवों का नाम है जो हमें सद्गुणग्रहणक्षम व ज्ञान से देदीप्यमान करते हैं। (वासयन्ते इति वसवः, रुद्राः मरुतः प्राणाः, आदानात् आदित्याः)।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यस्तूप की आराधना तैतीस देवों का आगमन

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपाꣳसि मृक्षतꣳ सेधतं द्वेषो भवतꣳ सचाभुवा॥४७॥

देवता तैतीस हैं, चौंतीसवाँ इनका अधिष्ठाता महादेव है। ग्यारह द्युलोक के देवता, ग्यारह अन्तरिक्षलोक के देवता और ग्यारह पृथिवीस्थ देव हैं। प्राणापान की साधना होने पर इन सब देवों का शरीर में उत्तम निवास होता है। ये प्राणापान वस्तुतः सत्य हैं, ये हमारे जीवन की सत्ता के कारण हैं। इसी से इन्हें 'नासत्या' कहते हैं जोकि 'न असत्या' असत्य नहीं हैं। इन प्राणापान की साधना करनेवाला ऋषि अपने वीर्य की ऊर्ध्वगति को सिद्ध करने के कारण 'हिरण्यस्तूप' कहलाता है। यह हिरण्यस्तूप प्रार्थना करता है कि १. **नासत्या**=हे सत्यस्वरूपवाले अश्विनीदेवो=प्राणापानो! आप **इह**=इस मेरे पार्थिव शरीर मे **त्रिभिः एकादशैः**=तीन गुणा ग्यारह, अर्थात् तैतीस **देवेभिः**=देवों के साथ **आयातम्**=आओ। प्राणापान की साधना से सब आसुरवृत्तियों का, दोषों का संहार होकर इस शरीर में देवों

व दिव्य गुणों का निवास होता है। सूर्यादि देव चक्षु आदि का रूप धारण करके अक्षि आदि स्थानों में ठीक प्रकार से निवास करते हैं और हमारी शरीररूप गौशाला देवरूप गौओं से परिपूर्ण हो जाती है। २. हे **अश्विना**=सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले अथवा कर्मों में उत्तमता से व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! आप **मधुपेयम्**=शहद के समान सारभूत वस्तु सोम के पान के लिए **आयातम्**=प्राप्त होवो। प्राणापान की साधना से सोम की शरीर में खपत होती है, यही अश्विनी देवों का सोमपान है। ३. इस सोमपान के द्वारा **आयु**=जीवन को **प्रायुस्तारिष्टम्**=खूब बढ़ा दीजिए—हम दीर्घजीवी बनें। ४. **रपांसि**=दोषों को **निर्मृक्षतम्**=पूर्णरूप से झाड़ू लगाकर साफ़ कर दो। ५. **द्वेषः सेधतम्**=द्वेष को हमसे दूर करो। प्राणसाधक चित्तवृत्ति को वशीभूत कर लेने से द्वेष में नहीं फँसता। ६. हे प्राणापानो! आप **सचाभुवा**=साथ होनेवाले **भवतम्**=होओ। प्राणसाधक की चित्तवृत्ति ऐसी बन जाती है कि वह सबके साथ मिलकर चलता है। Live and let live. यह उसका जीवन सिद्धान्त हो जाता है। वह सबकी दृष्टि में 'देव' बन जाता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करें, जिससे १. देवों के निवासस्थान बनें २. वीर्य की ऊर्ध्वगति कर पाएँ। ३. दीर्घ जीवन प्राप्त करें ४. दोषों को दूर करें। ५. द्वषे से ऊपर उठें ६. मिलकर चलने के स्वभाववाले हों।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**मरुतः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पापों से दूर

एष व स्तोमो मरुतऽइयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥४८॥

१. पिछले मन्त्र में प्राणसाधना का वर्णन है। प्राणों को वैदिक साहित्य में 'मरुतः' भी कहते हैं। इनकी साधना करनेवाले भी 'मरुतः' कहलाते हैं। ये प्राणसाधक 'मितराविणः'=कम बोलनेवाले होते हैं। यह प्राणसाधना ही वस्तुतः प्रभु-स्तवन है। हे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **एषः वः स्तोमः**=यही तुम्हारा स्तुतिसमूह है। प्राणसाधना से हम दोषों का दहन करते हैं, इससे उत्तम प्रभु का स्तवन और क्या हो सकता है? २. **इयं गीः**=यह वेदवाणी **मान्दार्यस्य** (मन्दतेः ईयतेश्च)=सदा प्रसन्न रहनेवाले गतिशील पुरुष की है। यह वाणी **मान्यस्य**=बड़ों का आदर करनेवाले देवपूजक (respectful) की है, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन का मानव जीवन पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह (क) सदा प्रसन्न, (ख) गतिशील, (ग) बड़ों का आदर करनेवाला तथा (घ) क्रियाओं को सुन्दरता से करनेवाला होता है। यदि उसका जीवन ऐसा नहीं बना तो यही समझना कि उसने वस्तुतः वेदवाणी का अध्ययन नहीं किया। ३. **एषा**=यह वेदवाणी **तन्वे**=(शरीरवृद्ध्यै) शरीर की सब शक्तियों के विस्तार के लिए **यासीष्ट**=तुम्हें प्राप्त हो। वेदवाणी हमारे जीवन का अङ्ग बनती है तो हमारी शक्तियों का सब प्रकार से वर्धन होता है। ४. **वयाम्** (वयम्)=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम (वेञ् तन्तुसन्ताने) **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पापवर्जन को और परिणामतः **जीरदानुम्**=जीवनौषध को **विद्याम**=प्राप्त हों। वेदवाणी के अन्दर निहित प्रभु-प्रेरणा को आलसी व्यक्ति प्राप्त नहीं करता। वह प्रेरणा क्रियाशील को ही प्राप्त होती है, उस प्रेरणा से हम पापों को दूर फेंकते हैं और अपने जीवन को सर्वथा नीरोग बना पाते हैं। शरीर में रोग नहीं, मन में पाप नहीं, बुद्धि में कुण्ठा नहीं। इस प्रकार **अग**=(अ ग) आगे न बढ़ने देनेवाले (पातक) गिरावट के कारणभूत सब पापों का (स्त्या) संहार

करनेवाला यह 'अगस्त्य' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना ही प्रभु-स्तवन है। वेदाध्येता सदा प्रसन्न, क्रियाशील, देवपूजक व दक्ष बनता है। वेदवाणी हमारी शक्तियों का विस्तार करती है। हम वेदवाणी की प्रेरणा को प्राप्त करके पापों से ऊपर उठें और जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**प्राजापत्यो यज्ञः**। देवता—**ऋषयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पितर=पूर्वजों का आदर्श जीवन

सहस्तोमाः सहच्छन्दसऽआवृतः सहप्रमाऽऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीराऽअन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥४९॥

पिछले मन्त्र में वेदाध्येता के लक्षणों में एक लक्षण यह भी था कि वे मान्य=बड़ों का आदर करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं बड़ों के जीवन का चित्रण है। १. **सहस्तोमाः**=ये स्तोमवाले होते हैं, इनका जीवन प्रभुस्तुति के साथ चलता है। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते ये सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। इसी से उन्हें जीवनमार्ग का दर्शन होता है। इस स्तवन से उन्हें विघ्नों व बाधाओं में व्याकुल न होने की शक्ति प्राप्त होती है। २. **सहच्छन्दसः**=ये छन्दोंवाले होते हैं, ये सप्तछन्दोरूप वेदवाणी के ज्ञाता बनते हैं। यह ज्ञानाग्नि वासनाओं का विध्वंस करके इनके कर्मों को पवित्र कर देती है। ३. **आवृतः**=ये आवृत होते हैं। इनके दिन का सारा कार्यकलाप ठीक आवर्तन में चलता है, उतने आवर्तन में, जितने में कि 'सूर्य और चन्द्रमा'। इस कार्यनियमितता से इनका स्वास्थ्य ठीक रहकर इन्हें दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। ५. **सहप्रमाः** =प्रमा शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्टमाप'। इनका जीवन प्रकृष्टमापवाला होता है। ये प्रत्येक क्रिया को माप-तोलकर करते हैं। सब क्रियाओं में 'युक्तचेष्ट' होते हैं, परिणामतः ये सदा स्वस्थ रहते हैं। ५. **ऋषयः**='ऋष गतौ' से बनकर यह शब्द गति की सूचना देता है। ये अपने जीवन में सदा क्रियाशील रहते हैं। इसी कारण ये वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते। वासनाओं के शिकार अकर्मण्य पुरुष ही हुआ करते हैं ६. **सप्तदैव्याः**=इनकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि ये सातों दैव्य होते हैं। ये इनसे 'देव' की ओर चल रहे होते हैं। इनसे ये प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, प्रकृति के स्वादों को भोगने नहीं लग जाते। ७. ये **धीराः**=स्थिर वृत्तिवाले ज्ञानी पुरुष **पूर्वेषाम्**=अपनों से पहले के **पन्थाम्**=मार्ग को—जीवन-यात्रा को **अनुदृश्य**=बारीकी से देखकर **अनु आलेभिरे**=उनके पदचिह्नों पर चलते हुए सर्वतः गुणों को ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे **रथ्यः**=एक उत्तम रथवाहक **रश्मीन्**=लगामों को। जिस प्रकार एक उत्तम सारथि रश्मि-नियमन में नाममात्र भी प्रमाद नहीं करता, उसी प्रकार ये धीर पुरुष भी गुणग्रहण में प्रमादशून्य होते हैं। अपने जीवन को अधिकाधिक गुणों से अलंकृत करते हुए ये सचमुच पितर पदवी को प्राप्त करते हैं। इन पूर्वजों का जीवन हमें भी प्रेरणा देता है और उस प्रेरणा को प्राप्त करके हम भी अपने जीवनों को उदात्त बनाते हैं। लोकहितकारी जीवन होने से ये पितर 'प्राजापत्य'=प्रजा के रक्षक कहलाते हैं और यज्ञमय जीवन होने के कारण 'यज्ञ' नामवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को स्तुतिमय, ज्ञानप्रधान, नियमित आवर्तनवाला, मपी-तुली क्रियाओंवाला, गतिमय, दिव्य व महाजनानुगामी बनाने का प्रयत्न करें। इस शरीररूप रथ पर आरूढ़ होकर बागडोर को अपने काबू में रक्खें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

हिरण्य का प्रवेश

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदꣳहिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम्॥५०॥

गतमन्त्र के सुन्दर जीवन के निर्माण का रहस्य 'हिरण्य'=तेज='वीर्य' की रक्षा में है। प्रस्तुत मन्त्र में उस हिरण्य की महिमा का वर्णन करते हैं। इसकी रक्षा के द्वारा अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेवाला 'दक्ष' (दक्ष् to grow) मन्त्र का ऋषि है। दक्ष कहता है कि **इदम् हिरण्यम्**=यह वीर्य १. **आयुष्यम्**=दीर्घजीवन का कारण है। **'मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**=इस हिरण्यबिन्दु के नाश से नाश है, रक्षा से जीवन है। २. **वर्चस्यम्**=यह वर्चस्य है। उस वर्चस्वाला है जो शरीर में रोगों के मूल पर ही कुठाराघात करता है, शरीर को (वर्च्=to shine) पूर्ण नीरोग करके यह अपने धारक के जीवन को चमका देता है। ३. **रायस्पोषम्**=यह ज्ञान की सम्पत्ति का पोषण करता है। वेद में वेदों को 'रायः समुद्राँश्चतुरः'=चार सम्पत्ति-समुद्र कहा है। वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। उस ज्ञानाग्नि के दीप्ति होने से हमारे ज्ञान-समुद्र का जल बढ़ता है। ४. **औद्भिदम्**=यह वीर्य (उद्भित्) हमें रोगों से ऊपर उठाकर सब विघ्न-बाधाओं का विदारण करके आगे बढ़ानेवाला होता है। ५. **इदम्**=यह **हिरण्यम्**=(हितरमणीयम्) अधिक-से-अधिक हमारा हित करनेवाला व रमणीय है। ४. यह **वर्चस्वत्**=वर्चस्वाला, दीप्ति को देनेवाला वीर्य **जैत्राय**=सब प्रकार की विजयों के लिए और अन्त में संसार का भी विजय करके मोक्षसाधन के लिए **माम्**=मुझे **उ**=निश्चय से **आविशतात्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में, सारे शरीर में प्राप्त हो। मैं इस सोम (वीर्य) का पान करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं हिरण्य के महत्त्व को समझूँ और उसके अन्तःप्रवेश के लिए पूर्ण प्रयत्नवाला होऊँ।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**भुरिक्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्य का धारण

न तद्रक्षाꣳसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳ ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥५१॥

गतमन्त्र के 'हिरण्य' का ही परिचय इन शब्दों में देते हैं कि १. **तत्**=इस हिरण्य=वीर्य को **न रक्षांसि**=न तो रक्षस् और **न पिशाचाः**=न ही पिशाच **तरन्ति**=तैर पाते हैं। 'रक्षस्' वे कृमि हैं जो अपने रमण के लिए हमारा क्षय करते हैं। ये कृमि नाना प्रकार के रोगों का कारण बनते हैं और 'पिशितम् अश्नन्ति' जो हमारे मांस को ही खा जाते हैं और हमें निर्बल (Emaciated) कर देते हैं—ये 'पिशाच' कहलाते हैं। शरीर में हिरण्य के होने पर ये रक्षस् व पिशाच हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाते। वीर्य शब्द का अर्थ ही 'विशेषरूप से कम्पित करके इन्हें दूर भगाानेवाला' है, इसीलिए तो यह हिरण्य=हित व रमणीय है। २. **देवनाम् ओजः**=यह देवताओं का ओज है। देवों की वृद्धि का कारण है (ओज् to increase)। असुर इसे भोगों का साधन बना विनष्ट हो जाते हैं। देव इसकी रक्षा करते हैं। **एतत्**=यह **हि**=निश्चय से **प्रथमजम्**=प्रथामाश्रम में, ब्रह्मचर्याश्रम में होनेवाला देवताओं का तेज सचमुच प्रथमजम्=(प्रथ विस्थारे) अत्यन्त विस्तृत शक्तियोंवाले पुरुष को जन्म

देनेवाला है। ३. **यः**=जो कोई भी इस **दाक्षायणम्**=(to grow) वृद्धि के कारणभूत (to kill) रोगकृमियों के विध्वंसक **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **बिभर्ति**=धारण करता है। **सः**=वह **देवषु**=देवों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुते**=करता है, **सः**=वह **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन **कृणुते**=कर लेता है, अर्थात् इस वीर्य को धारण करनेवाला व्यक्ति देव=दिव्य गुणों का पुञ्ज बनता है और मनुष्य मननशील ज्ञानी बनता है। दिव्य व ज्ञानी बनकर यह दीर्घ जीवनवाला होता है, एवं, इस दाक्षायण हिरण्य के तीन लाभ हैं—(क) शरीर में नीरोगता से दीर्घ जीवन, (ख) मन में दिव्यगुण, (ग) मस्तिष्क में अवबोध (मनु अवबोध)। इसी कारण इसे दाक्षायाण सुनहला आभूषण a golden ornament कहा गया है।

भावार्थ—हम दाक्षायण हिरण्य को धारण करके दीर्घजीवी, दिव्य व दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्य का बन्धन

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्मऽआ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम्॥५२॥

पिछले मन्त्र में 'दाक्षायण हिरण्य' के धारण की महिमा का सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उस 'दाक्षायण हिरण्य' के बाँधने का निश्चय करता हुआ 'दक्ष' कहता है कि **यत्**=जिस **दाक्षायणाः**=वृद्धि के कारणभूत, रोगकृमियों के विध्वंसक **हिरण्यम्**=हितरमणीय तेज को **सुमनस्यमानाः**=उत्तम विचार करते हुए लोग **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष प्राणशक्ति के (अन प्राणने) स्थिर रखने के लिए **आबध्नन्**=अपने अन्दर बाँधते हैं **तत्**=उस तेज को **मे**=अपने लिए **आबध्नामि**=बाँधता हूँ **यथा**=जिससे **आयुष्मान्**= उत्कृष्ट जीवनवाला **जरदष्टिः**=वृद्धावस्था तक पूर्ण आयुष्य को व्याप्त करनेवाला **शतशारदाय**=सौ-के-सौ वर्ष के लिए **आसम्**=होऊँ। उल्लिखत अर्थ में 'सुमनस्यमानाः' शब्द से हिरण्य के अपने मे बन्धन के साधन का सङ्केत हुआ है। मनुष्य मन में सदा उत्तम विचारों का करनेवाला बनेगा तो इस वीर्य को अवश्य सुरक्षित कर पाएगा। अशुभ विचार ही इसके नाश के महान् कारण बनते हैं। इसे अपने में बाँधने से होनेवाले लाभ इस रूप में हैं—१. **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष प्राणशक्तिसम्पन्न बने रहेंगे। २. **शतशारदाय**=सौ वर्ष के आयुष्य तक हम अवश्य चलेंगे। ३. **आयुष्मान्**=उत्तम जीवनवाले होंगे। ४. **जरदष्टिः**=पूर्ण वृद्धावस्था तक चलेंगे। नौजवानी में ही हमारा जीवन समाप्त न हो जाएगा। ५० से ५२ तक तीन मन्त्रों में 'हिरण्य'=वीर्य की महिमा का वर्णन है। इसका हम अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश करें (५०) अपने में धारण करें (५१) और इसे अपने में ही बाँधनेवाले हों (५२)। जो व्यक्ति इस हिरण्य के प्रवेश, धारण व बन्धन को कर पाता है वह 'दक्ष'=उन्नतिशील (to grow) स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला (to act quickly), रोगकृमियों व द्वेषादि मलों का ध्वंसक (to hurt, kill), कार्यकुशल (to be competent), क्रियाशील व निरालस्य (to go, move) होता है।

भावार्थ—हम हिरण्य का अपने में प्रवेश, धारण व बन्धन करके दीर्घ व उत्तम जीवनवाले बनें। यह हिरण्य सचमुच हमारा सुनहला आभूषण बन जाए।

ऋषिः—**ऋजिश्वा**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श जीवन

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वजऽएकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वेदेवाऽऋतावृधो हुवाना स्तुता मन्त्राः कविशस्ताऽअवन्तु ॥५३॥

गतमन्त्र में हिरण्य के बन्धन से 'आयुष्मान्'=उत्तम जीवनवाला होने का उल्लेख था। उसी उत्तम जीवन का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में है। इस मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा' है। 'ऋजुना श्वयति'=सरल मार्ग से चलता है और आगे बढ़ता है (श्वि गतिवृद्ध्योः), एवं उत्तम जीवन वह है जिसमें (क) सरलता है, (ख) गतिशीलता है और (ग) शक्तियों का वर्धन है, १. यह 'ऋजिश्वा' प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारी प्रार्थना को **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन मूलवाला (अग्निर्वा अहिर्बुध्न्यः—कौ० १६।७) अग्नि **उत**=और **अजः एकपात्**=(सूर्यं देवमजमेकपादम् —तै० ३।१।२।८) सूर्य, **पृथिवी**=पृथिवी, **समुद्रः**=समुद्र—ये देव **शृणोतु**=सुनें। इन सब देवों की मुझपर कृपा हो। मैं इन देवों की विशेषताओं को अपने जीवन में धारण करनेवाला बनूँ। (क) अग्नि के समान सब मलों का जलानेवाला बनूँ (ख) मलों का नाश होकर यह तेजस्विता के दृष्टिकोण से सूर्य-जैसा बनता है। (ग) तेजस्वी होने के कारण यह पृथिवी के समान क्षमाशील होता है। पृथिवी का तो नाम ही 'क्षमा' पड़ गया है। हम उसपर कूदते-फाँदते हैं, गड्ढे करते हैं, परन्तु पृथिवी सब सहती है। यह तेजस्वी पुरुष भी सहनशील बनता है। (घ) यह क्षमाशील पुरुष समुद्र के समान गम्भीर होता है। २. अग्नि को 'अहिर्बुध्न्य' कहा है, अहीन मूलवाला। जब तक शरीर में यह अग्नितत्त्व है तब तक जीवन का मूल क्षीण नहीं होता। अग्नि गई और मूल नष्ट हुआ। सूर्य 'अज एकपात्' है। 'अज गतिक्षेपणयोः'=सूर्य निरन्तर क्रिया से मलों को दूर फेंक रहा है और एक बार इसने कदम रखा तो फिर रुकने का नाम नहीं लिया। ३. 'अग्नि, सूर्य, पृथिवी और समुद्र' तो हमारी प्रार्थना को सुनें ही, अन्य सब देव भी **हुवानाः**=परस्पर स्पर्धा करते हुए **ऋतावृधः**=मुझमें ऋत को बढ़ानेवाले हों। सब देव अपनी दिव्यता को मुझमें भरनेवाले हों। मैं सब देवों का ऐसा प्रिय बनूँ कि वे एक-दूसरे से बढ़कर मुझे अच्छा बनाने की कामना करें। मैं सब देवों की दिव्यता का पात्र बन जाऊँ। ४. **स्तुताः**=प्रभु की स्तुति का प्रतिपादन करनेवाले **कविशस्ताः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों से उच्चारण किये गये **मन्त्राः**=मन्त्र (ज्ञान-प्रतिपादकवाक्य) **अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। हम विद्वानों से सदा प्रभु की महिमा की प्रतिपादिका उत्तम ज्ञानवाणियों को सुनें, जिससे हमारे जीवन सुन्दर और सुन्दरतर बनते जाएँ।

भावार्थ—उत्तम जीवन वह है जो (क) सरलता, गतिशीलता व शक्तिवर्धनवाला है (ऋजिश्वा)। (ख) अग्नि के समान मलों का दाहक, सूर्य के समान तेजस्वी, पृथिवी के समान क्षमाशील व समुद्र के समान गम्भीर है। (ग) जिसमें सब दिव्य गुणों ने ऋत व सत्य का वर्धन किया है। (घ) जो विद्वानों से ज्ञानवाणियों को सुनने में व्यतीत होता है।

ऋषिः—**कूर्म गार्त्समदः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु का छोटा रूप

इमा गिरऽआदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रोऽअर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षोऽअंशः॥५४॥

१. पिछले मन्त्र में 'कविशस्त मन्त्रों के श्रवण' का वर्णन है। उसी बात को कुछ

विस्तार से कहते हैं कि **इमाः गिरः**=इन वाणियों को जो **घृतस्नूः**=ज्ञानदीप्ति का स्रवण करनेवाली हैं, **सनात्**=नित्य **राजभ्यः**=ज्ञानदीप्ति से देदीप्यमान **आदित्येभ्यः**=चारों वेदों का ग्रहण करनेवाले आदित्यसंज्ञक विद्वानों की **जुह्वा**=वाणी से (जुहू इति वाङ्नाम) **जुहोमि**=आहूत करता हूँ। चारों वेदों के विद्वान् 'आदित्य' हैं। इन आदित्य विद्वानों से मैं सदा ज्ञान की वाणियों को सुनता हूँ। उन वाणियों का उच्चारण करता हुआ उन ज्ञानवाणियों को हृदय में धारण करता हूँ। २. इन ज्ञानवाणियों को सुनने का परिणाम यह हो कि निम्न देव **नः शृणोतु**=हमारी प्रार्थना को सुनें। मैं इन देवों का कृपापात्र बनूँ, इन देवों का मुझमें निवास हो (क) **मित्रः**=स्नेह की देवता। हम सदा सबके साथ स्नेह करनेवाले बनें। (ख) **अर्यमा**=(अरीन् गच्छति) हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें, 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=हम सदा कुछ देनेवाले हों। (ग) **भगः**=ऐश्वर्य की देवता। 'भज सेवायाम्'=हम भजनीय धन को प्राप्त करनेवाले बनें। (घ) **तुविजातः**=महान् विकासवाला **वरुणः**=द्वेष के निवारणवाला वरुणदेव हमारी प्रार्थना को सुने। हम किसी से द्वेष न करें। द्वेष व ईर्ष्या से ऊपर उठना ही विकास का मार्ग है। (ङ) **दक्षः**=हम 'दक्ष' के प्रिय बनें। दक्ष (to grow)=अपनी शक्तियों के विकासवाले हों। दक्ष (to act quickly, to go)=हम स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले हों। दक्ष (to hurt, to kill)=रोगकृमियों के ध्वसंक हों। दक्ष (to be competent)=हम कार्यकुशल बनें। (च) **अंशः**=उल्लिखित सब बातों को अपने जीवन में लाकर हम प्रभु के 'अंश'=छोटे रूप बन पाएँ अथवा 'अंश्' to divide=हम अपने धनों का उचित विभाग करनेवाले हों, सारे का सारा स्वयं न खा जाएँ। वस्तुतः प्रभु बाँटते हैं तो सब बाँट देते हैं, अपने लिए कुछ रखकर जीव भी अधिक-से-अधिक बाँटने का प्रयत्न करे, अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का प्रयत्न करे। यही परमेश्वर का 'छोटा रूप' बनने का उपाय है। ३. इस प्रकार जीवन बनानेवाला व्यक्ति 'कूर्म गार्त्समद' है। 'कूर्म'=क्रियाशील, **गृत्स**=प्रभु का स्तोता **मद**=आनन्दमय। वस्तुतः नित्य ज्ञानयज्ञ करता हुआ यह व्यक्ति अपने जीवन को प्रभु के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानावाणियों को सुनें। स्नेह, दान, सेवनीय धन, द्वेषनिवारण व दक्षता को धारण करें और प्रभु का ही छोटा रूप बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**अध्यात्मं प्राणाः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ऋषि का आश्रम, सात ऋषि, अस्वप्नज देव

सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥५५॥

१. **सप्त ऋषयः**=सात ऋषि **प्रतिशरीरे**=प्रत्येक शरीर में **हिताः**=रक्खे गये हैं। प्रभु ने 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'='दो कान, दो नासिका (छिद्र), दो आँखें व एक मुख' इस प्रकार सात ऋषि—तत्त्वज्ञान प्राप्त करानेवाले देव (ज्ञानेन्द्रियाँ) अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि—ये सात ज्ञानसाधक देव हम सबके शरीर में स्थापित किये हैं। २. **सप्त**=ये सात ऋषि **सदम्**=इस तेतीस देवों के निवासस्थान को **अप्रमादम्**=बिना किसी प्रकार के प्रमाद के **रक्षन्ति**=रक्षित करते हैं। जब तक ये ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप ऋषि ठीक कार्य करते हैं तब तक नाश का भय नहीं होता। ३. इन सातों ऋषियों से ज्ञान के प्रवाह निरन्तर चलते हैं। इन ज्ञानप्रवाहों के चलने से ही इन्हें 'आपः' नाम से यहाँ स्मरण किया गया है। जैसे जल बहता है, उसी प्रकार इनसे ज्ञान के प्रवाह चलते हैं, वृत्तियाँ

इधर-उधर फैलती हैं, परन्तु जिस समय जीवात्मा, इन्द्रियों का अधिष्ठाता 'इन्द्र'-देव मस्तिष्करूप कार्यालय को छोड़कर हृदयरूप घर में जाता है ('स्वम् अपि इतो भवति' =अपने घर की ओर गया होता है=स्वपिति) तब **स्वपतः**=हृदयरूप घर की ओर जाते हुए इन्द्र के **लोकम्**=स्थान व दर्शन को (लोक्=to look) **सप्त आपः**=ये सात इन्द्रियवृत्तियों के प्रवाह **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। जागरितावस्था में तो ये प्रवाह बाहर की ओर चल रहे थे। अब स्वप्नावस्था में ये बाहर की ओर न जाकर उस आत्मा के ही लोक में पहुँच जाते हैं। इसलिए स्वप्न में कई बार हमें आत्मा का आभास होता प्रतीत होता है। इसी आभास को दृढ़ता से पकड़ लेने के लिए योगदर्शन के **'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा'** इस सूत्र में कहा गया है। ४. **तत्र**=उस स्वप्नावस्था में भी **अस्वप्नजौ**=(स्वप्नक्=शयालु) न सोने के स्वभाववाले **देवौ**=सदा अपनी क्रीडा को स्थिर रखनेवाले, दिव्य गुणोंवाले 'प्राणापान' **सत्रसदौ**=इस जीवन-यज्ञ में सदा स्थित होनेवाले **जागृतः**=जागते रहते हैं। सब सो जाएँ, पर ये प्राणापान तो यज्ञ के रक्षक हैं, ये सोते नहीं। ये सोने लगें तो सब समाप्त न हो जाए? इससे इन प्राणापान का महत्त्व स्पष्ट है। इनकी साधना पर इसीलिए अत्यधिक बल दिया गया है। इनकी साधना करनेवाला 'कण्व'=मेधावी बनता है। यह कण्व ही मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम इस शरीर को ऋषि-आश्रम के रूप में देखें। इसके दिन-रात चलनेवाले ज्ञानयज्ञ का ध्यान करें और यज्ञ के रक्षक प्राणापानों की साधना को महत्त्व दें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ब्रह्मणस्पति का उत्थान

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानवऽइन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥५६॥

१. हमारे जीवनों में सामान्यतः सांसारिक भावनाएँ प्रबल रूप से उठती रहती हैं। कभी काम की वासना उठ खड़ी हुई, कभी क्रोध प्रबल हो गया या लोभ ने हमें आ घेरा। इन वासनाओं के उठ खड़े होने पर दिव्य-भावनाओं का तो हमारे हृदयों से कूच हो ही जाता है। इनके जाने पर 'देव' वहाँ से चले जाते हैं, अतः 'कण्व' प्रार्थना करता है कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के पति प्रभो! **उत्तिष्ठ**=हमारे हृदयों में आपका ही भावन उठे। हम आपका ही चिन्तन करें। हमें आपकी कभी विस्मृति न हो। २. जिस प्रकार राजा के आने पर अन्य अधिकृत पुरुष उसके पीछे-पीछे स्वयं आ जाते हैं उसी प्रकार उस महान् देव के आने पर अन्य देव उसके साथ आएँगे ही, अतः **देवयन्तः**=देवों को अपनाने की कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **ईमहे**=चाहते हैं, प्राप्त करने की कामना करते हैं। मेरे हृदय में प्रभुभावना उठ खड़ी होगी तो 'आसुर भावनाएँ लुप्त हो जाएँगी'। इतना ही नहीं, प्रत्युत सब दिव्य-भावनाएँ मेरी हृदयस्थली में अंकुरित हो उठेंगी। 'कण्व' की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि ३. **उपप्रयन्तु**=मेरे समीप आएँ। कौन? (क) **मरुतः**=प्राणों की साधना करनेवाले (मरुतः प्राणाः) परिमित बोलनेवाले (मितराविणः) तथा (ख) **सुदानवः**=उत्तम दान देनेवाले। वस्तुतः प्रभुभावना को जागरित करने के ये तीन साधन हैं—'प्राणसाधना, कम बोलना और दानशील बनना।' पुनः प्रभु कहते हैं कि (ग) **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू (घ) **प्राशूः**=(प्र अश व्याप्ति) प्रकर्षेण कर्मों में व्याप्त होनेवाला हो। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस आदेश को भूल नहीं। 'एवं त्वयि, न अन्यथा इतः अस्ति'='यही मार्ग है, दूसरा नहीं' इस बात को भूलना नहीं और (ङ) फिर **सचाभवा**=सबके साथ मिलकर

चलनेवाला हो। तूने मोक्ष भी अकेले पाने की कामना नहीं करनी। सभी के कल्याण में अपना कल्याण समझना। इस जीवन-यात्रा में वैर-विरोध से नहीं चलना। मुझे तो तू तभी प्राप्त करेगा जब सबके साथ तेरा प्रेमभाव होगा।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभुभावना को हृदय में सदा जागरित करता है, जिससे कि हृदय देवों का निवासस्थान बने। प्रभु-प्राप्ति के उपाय इस प्रकार हैं १. प्राणसाधना करना, कम बोलना (मरुतः) २. प्रकृति में न फँसना, ख़ूब देनेवाला बनना (सुदानवः) ३. जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना (इन्द्र) ४. सदा उत्तम कर्मों में लगे रहना (प्राशुः) ५. मिलकर चलना (सचा) **'सं गच्छध्वम्'**, इस उपदेश को क्रियान्वित करना।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ब्रह्मणस्पति का मन्त्रोच्चारण

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽअर्यमा देवाऽओकांꣳसि चक्रिरे॥५७॥

पिछले मन्त्रों में कण्व की प्रार्थना थी कि 'ब्रह्मणस्पति का मेरे हृदय में उत्थान हो, मेरे हृदय में प्रभुभावना जागरित हो'। इसपर प्रभु ने कहा था कि 'मरुत्, सुदानु, इन्द्र, प्राशू सचा' बनकर तू मेरे समीप आ। यदि हम प्रभु के आदेशानुसार ऐसे बनकर प्रभु के समीप आते हैं तो हमारे हृदयस्थ वे **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान के पति प्रभु **नूनम्**=निश्चय से **उक्थ्यम्**=ऊँचे-ऊँचे उच्चारण के योग्य प्रशंसनीय **मन्त्रम्**=मननीय, ज्ञान से परिपूर्ण वेदवाक्यों का **प्रवदति**=ख़ूब ही उच्चारण करते हैं। हम न सुनें तो यह हमारा दोष है, प्रभु तो उच्चारण कर ही रहे हैं। ये मन्त्र वे हैं **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा देवाः**=इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा तथा अन्य सभी देव **ओकांसि**=अपने गृहों को **चक्रिरे**=बनाते है। इस मन्त्र में यह शक्ति है कि जहाँ यह मन्त्र होगा वहाँ देवों का भी निवास होगा। जहाँ हम हृदयस्थ प्रभु के मन्त्रों का ग्रहण करनेवाले बनते है, वहाँ हमारा जीवन इन देवों का निवास स्थान बन जाता है। ज्ञान की वाणियों के अध्ययन का यह परिणाम है कि मनुष्य १. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। उसकी इन्द्रियाँ विषयों में आसक्तिवाली नहीं होती। वे विषय-रस की तुच्छता को जानकर 'रसरूप' प्रभु की ओर चलनेवाली होती हैं। २. **वरुणः**=यह व्यक्ति द्वेष का निवारण करनेवाला होता है। ३. **मित्रः**=यह सबके प्रति स्नेह की वृत्ति से चलता है। ४. **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) यह 'काम, क्रोध व लोभ' रूप शत्रुओं का नियमन करनेवाला होता है। ५. **देवाः**=(देवो दानाद्वा दीपनाद्वा) यह दान की वृत्ति को अपनाता है, ज्ञान की दीप्ति से दीप्त होता है औरों को ज्ञान की दीप्ति से द्योतित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम हृदयस्थ ब्रह्मणस्पति प्रभु के उच्चरित मन्त्रों को सुनें, ज्ञानयज्ञों में प्रवृत्त हों, जिससे हमारा जीवन दिव्य गुणों की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो, हम 'दैवी सम्पद्' को अपने में बढ़ा पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृत्समद द्वारा ब्रह्मणस्पति-स्तवन

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥५८॥

पिछले मन्त्र में कण्व ऋषि ब्रह्मणस्पति के मन्त्रोच्चारण को सुनकर अपने जीवन को देवों का निवासस्थान बनाता है और प्रभु-स्तवन करनेवाला 'गृत्स' तथा प्रसन्न रहनेवाला 'मद' बनता है। यह गृत्समद ब्रह्मणस्पति का निम्न प्रकार से स्तवन करता है १. हे **ब्रह्मणस्पते**=सब ज्ञान के पति प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्य सूक्तस्य** =इस उत्तमता से (सु) उच्चारण किये गये (उक्त) मन्त्र के **यन्ता**=देनेवाले हैं (यच्छति=देता है) **बोधि**=इस मन्त्र को देकर आप हमें ज्ञान दीजिए। हमें ही नहीं, **तनयम् च**=हमारे सन्तानों को भी **जिन्व**=इस ज्ञान से प्रीणित कीजिए। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही हम देवों के निवासस्थान बनेंगे और **यत्**=जब **देवाः अवन्ति**=देव किसी पुरुष की रक्षा करते हैं **तत्**=तब **विश्वम् भद्रम्**=सब कल्याण-ही-कल्याण होता है। दिव्य गुण हमारा रक्षण करते हैं, असुरवृत्तियाँ हमें अशुचि नरक में ले-जानेवाली होती हैं (पतन्ति नरकेऽशुचौ), इसलिए हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों **में बृहद् वदेम**=उस सदा वर्धमान ब्रह्म की चर्चा करें। इस प्रभु के चिन्तन से हम **सुवीराः**= उत्तम वीर बनें। संसार में शक्तिशाली बनकर वासनाओं के जीतनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु मुझे ज्ञान दें। मैं धन के संग्रह में न फँस जाऊँ प्रत्युत प्रभु का स्तवन करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताऊँ।

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥